RAJHIN16138/20/1/2012-TC
ISSN : 2278-6392

शिक्षा की बुनियाद

हिंदी त्रैमासिक | वर्ष : 2 | अंक : 5 | 11 जुलाई, 2013 | उदयपुर | ₹ 200(वार्षिक)

विद्या भवन सोसायटी

Azim Premji University

शिक्षा की बुनियाद

इस अंक में...

1 संपादकीय

2 बुनियादी तालीम में मेरा सफर
दयाल चंद्र सोनी

10 कैसे करें लेखन कला का विकास
जितेंद्र कुमार

14 शिक्षण में कैसे आए वैज्ञानिक चिंतन
जगमोहन चोपता

15 करो और सीखो
मोहनलाल जाट

23 बच्चे में प्रकृति की अवधारणा
इंदिरा जयसिम्हा

32 निजी शिक्षा के मायने
अनुराग बेहार

34 कैसे जानें अपने इतिहास को
पुष्पराज सिंह राणावत

39 नई राह
मॉर्जरी सॉइक्स

43 अनुबंध : स्वरूप और प्रक्रिया
मनसुख भाई सल्ला

47 डायरी के पन्ने
शहनाज डी.के.

आवरण छायाचित्र
ये होशंगाबाद (म.प्र.) के पास स्थित भीमबटेका की गुफाओं में शिकारी संग्राहक मानव के द्वारा 10 से 20 हजार वर्ष पूर्व बनाए गए शैलचित्र हैं।
(इंटरनेट से साभार)

परामर्श–प्रबंधन : हृदय कांत दीवान
एस. गिरिधर
रामगोपाल वल्लत

संपादक : भाग चंद्र कुमावत

संपादक मण्डल : गुरबचन सिंह
के.आर. शर्मा
कमलेश जोशी
गिरीश शर्मा
रजनी द्विवेदी

चित्रांकन : प्रशांत सोनी

कवर एवं ले–आउट : इसरार अहमद
मो. इकराम

टाइपिंग सहयोग : शाकिर अहमद

वितरण : निशांत कुमावत
✆ 09950912525

संपादकीय पता

विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र
विद्या भवन सोसायटी परिसर, फतेहपुरा, मोहन सिंह मेहता मार्ग
उदयपुर (राज.) 313 004
फोन : (0294) 2451497
E-mail : *vbsudr@yahoo.com*

संपादकीय

'शिक्षा की बुनियाद' का प्रमुख मकसद नई तालीम में उपयोगित सिद्धांतों – उनके अर्थ व प्रासंगिकता समेत शिक्षा के बुनियादी मसलों पर शिक्षक व शिक्षा से जुड़े साथियों के बीच विमर्श को बढ़ावा देना है। इस लिहाज से शिक्षा की बुनियाद का फलक काफी व्यापक मगर सटीक है। हमारा प्रयास है कि इसकी सामग्री शिक्षा में कार्य करने वालों को उसके अर्थ खंगालने व पढ़ाने के नए विकल्प खोजने और उनका कक्षा और कक्षा के बाहर उपयोग करने के लिए प्रेरित कर सके।

'शिक्षा की बुनियाद' का यह मानना है कि शिक्षा समाज का अभिन्न अंग है और समाज की तासीर के अनुकूल ही शिक्षा का ताना–बाना बुना जाना चाहिए। होना तो यह चाहिए कि बच्चे जिस समुदाय से आ रहे हैं स्कूल में, उनके अनुभव व संदर्भ को शामिल किया जाए। संदर्भ और अनुभव के बिना शिक्षा अधूरी है। शिक्षा का उद्देश्य यह तो नहीं कि हम बच्चों में तथाकथित जानकारियों को भरते रहें। शिक्षा का असली उद्देश्य तो बच्चों में ऐसे कौशल विकसित करना है, जो बच्चों के जीवन में और समाज की रचना में काम आए।

पिछले कई दशकों से, चाहे वे शहरी बच्चे हों या ग्रामीण, को जो शिक्षा दी जा रही है, वह समझ पर कम व रटने पर अधिक जोर देती है। यह विडंबना है कि वह बच्चों को उनके संदर्भ व समाज से भी अलग कर रही है। हमारा फोकस अनुभव व समझ और संदर्भ आधारित शिक्षा पर होना चाहिए। इस लिहाज से बुनियादी तालीम का शिक्षाशास्त्र आज भी प्रासंगिक है। जरूरत है उसको समझने की। इस हेतु प्रयास यह रहता है कि हम नई तालीम के शिक्षाशास्त्र से जुड़ी गूढ़ बातों और उसके इतिहास के खट्टे–मीठे अनुभवों को साझा करें और बुनियादी शिक्षा दर्शन को समझते हुए, उसे आज के संदर्भ में कैसे अपना सकते हैं, इस पर विमर्श करें।

इस दृष्टि से इस अंक में स्वर्गीय दयाल चंद्र सोनी के 'बुनियादी तालीम में मेरा सफर' आलेख में बुनियादी शिक्षा को समझने के लिए किए गए गंभीर प्रयास व उसके समृद्ध अनुभवों की हमें झलक मिलती है। मॉर्जरी सॉइक्स का आलेख 'नई राह' हमें बुनियादी तालीम के विचार को समग्र रूप से समझने में मदद करता है। उत्तरकाशी में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन द्वारा स्वर्गीय हेमराज भट्ट की स्मृति में आयोजित विमर्श बैठक की 'रपट', विज्ञान शिक्षण में कैसे शामिल हो वैज्ञानिक चिंतन, हमें बहुत कुछ सोचने और करने के लिए बाध्य करती है। 'बच्चे में प्रकृति की अवधारणा' आलेख बच्चे अपने आसपास की दुनिया से जुड़कर, कैसे प्रकृति व पर्यावरण की अपनी अवधारणा विकसित कर लेते हैं, को बयां करता है। होशंगाबाद की भीमबेटका व आदमगढ़ गुफाओं के भ्रमण के माध्यम से मानव इतिहास को खोजने की कोशिश की गई है। आशा है, अंक में दी गई सामग्री आपको पसंद आएगी और आप भी इस पत्रिका में अपने अनुभव व विचार सम्मिलित करने का प्रयास करेंगे।

संपादन साथी

बुनियादी तालीम में मेरा सफर

दयालचन्द्र सोनी

डॉ. जाकिर हुसैन की जन्म शताब्दी मनाने के उपलक्ष्य में 7 मार्च, 1968 को जामिया मिलिया इस्लामिया, दिल्ली में एक विचार गोष्ठी आयोजित की गई, जिसका विषय ''आज के समय में बुनियादी तालीम की प्रासंगिकता है या नहीं'' था। इस गोष्ठी में स्व. दयाल चंद्र सोनी को विद्या भवन बुनियादी मदरसे में उनके द्वारा किए काम व प्रयोग के बारे में ''बुनियादी शिक्षा में मेरे प्रयोग'' विषय पर एक निबंधवाचन के लिए निमंत्रण दिया गया। दयाल चंद्र सोनी ने इस विषय के शीर्षक में थोड़ा परिवर्तन करते हुए ''बुनियादी शिक्षा में मेरा सफर'' पर एक दिलचस्प निबंध लिखा था। इस निबंध में बुनियादी तालीम के विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में बनी उनकी समझ को उन्होंने बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया था। इस निबंध का शुरुआती हिस्सा यहां दिया जा रहा है। इसका शेष हिस्सा अगले अंक में।

मैं इस बात को अपना परम सौभाग्य मानता हूं कि परम आदरणीय स्व. डॉ. जाकिर हुसैन की जन्मशताब्दी पर ''बुनियादी तालीम की प्रासंगिकता'' पर विचारगोष्ठी आयोजित की गई तथा इस गोष्ठी में अपने अनुभव प्रस्तुत करने के लिए मुझे भी एक मौका दिया गया।

मूलरूप से मुझे अपने इस लेख के लिए जो शीर्षक दिया गया, वह है, ''बुनियादी शिक्षा में मेरे प्रयोग''। पर मेरी प्रार्थना आप सब से यह है कि मुझे थोड़ी व्यापक दृष्टि से बोलने की इजाजत दी जाए और मेरे इस लेख का शीर्षक ''बुनियादी शिक्षा में मेरा सफर'' रखने दिया जाए। बुनियादी शिक्षा में मैंने जो प्रयोग किए वे इस लेख में आएंगे जरूर पर उनका वर्णन अलग–अलग प्रयोगों में नहीं करके एक सिलसिलेवार सफर नामे के रूप में करना बेहतर होगा। बुनियादी शिक्षा में मैंने जो काम किया उसमें केवल प्रयोगवाद या एक्स्पेरिमेंट करके परखने की ही भावना नहीं थी, बल्कि जो कुछ भी मैंने किया, चाहे वह एक प्रयोग ही क्यों न हो, उसके पीछे एक आस्था तथा एक समर्पण भी रहा। यानी बुनियादी शिक्षा से मेरा जुड़ाव केवल बौद्धिक नहीं रहा बल्कि उसमें भावना भी जुड़ गई। इसलिए मैं अपने लेख या भाषण का विषय ''बुनियादी तालीम में मेरा सफर'' रखने की अनुमति मांगता हूं। मुझे आशा है कि आप की अनुमति है और इसी हिसाब से मैं आगे बोलूंगा।

इसके पहले कि मैं आगे बोलूं मैं आपसे एक मिनट का एक ''रीसेस'' या अवकाश चाहूंगा ताकि मैं अपनी एक यादगार से श्रद्धेय जाकिर साहब को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के बाद आगे बोलूं। यह बात बुनियादी तालीम की मेरी कहानी से अलग जरूर है, पर जब मैं इस शताब्दी समारोह में आ ही गया हूं तो एक मिनट मुझे थोड़ी अलग लगनेवाली बात की भी इजाजत दीजिए। आशा है इजाजत है।

बात यह है कि सन् 1946 में जब जामिया मिलिया

की रजत जयंती थी तो विद्या भवन उदयपुर की तरफ से एक तो श्री इस्माइल साहब और एक मैं उस उत्सव में भेजे गए थे। इस्माइल साहब तो अलग से गए थे। पर मैं जब ट्रेन में रेवाड़ी स्टेशन पहुंचा तो समाचार मिला कि दिल्ली में हिन्दू मुस्लिम दंगे भड़क गए हैं। मैंने डर के कारण रेवाड़ी से ही उदयपुर लौटने का विचार किया। मेरी बात एक मुस्लिम युवक ने सुनी तो वह बोला कि आप डरो मत। दिल्ली स्टेशन पर मेरा बड़ा भाई रहता है। मैं आज रात को आपको उसके यहां रखूंगा और सुबह आपको ओखला की बस में बैठा दूंगा। मैंने उस युवक का विश्वास किया और मैं सुरक्षित जामिया पहुंचा। यहां रजत जयंती के जलसे में मौलाना आजाद, जवाहर लाल नेहरू, चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य, सरदार पटेल तथा जिन्ना साहब भी आए और एक मंच पर बैठे। नवाब भोपाल अध्यक्ष थे। उस समय आजादी के पहले की अंतरिम सरकार थी जिसमें मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों शामिल थीं। देश में चारों ओर दंगे फसाद का माहौल था। इस मंच पर डॉ. जाकिर हुसैन ने जो मार्मिक भाषण देश की दशा पर दिया उससे सभी श्रोताओं का दिल हिल गया। उस भाषण का सार मैं आज इन पंक्तियों में दुहराना चाहता हूं–

''क्यों बंट रहे हैं हम हिन्दू और, मुसलमां में?

इंसान बने रहना, काफी नहीं है क्या?''

श्रद्धेय जाकिर साहब को अपनी श्रद्धांजलि इस प्रकार अर्पित करके अब मैं अपने मूल विषय पर आ जाता हूं।

महात्मा गांधी ने तो बुनियादी तालीम का विचार सन् 1936 में ही दे दिया था, लेकिन डॉ. मोहनसिंह मेहता द्वारा उदयपुर में स्थापित विद्या भवन संस्था, (जिसमें मैंने हाई स्कूल तक की तालीम पाई थी और सन् 1936 में हाई स्कूल पास करते ही बिना किसी भी प्रकार की टीचर ट्रेनिंग लिए मैं अपनी 17 वर्ष की अवस्था में ही टीचर नियुक्त कर दिया गया था।) ने सन् 1941 में एक बुनियादी मदरसा उदयपुर शहर से कुछ दूरी पर ग्रामवासियों के लिए चलाने का विचार किया। उस वक्त विद्या भवन में यह सवाल उठा कि बुनियादी शिक्षा के इस नए विद्यालय का काम किसको सौंपा जाए। तो राम जाने, विद्या भवन ने मुझ बेचारे में ऐसा क्या देखा कि यह काम मुझे सुपुर्द कर दिया गया। खैर, 23 अप्रैल 1941 में उस नए विद्यालय यानी विद्या भवन बुनियादी मदरसे का उद्घाटन हुआ और यह उद्घाटन श्रद्धेय जाकिर साहब के ही कर कमलों से कराया गया।

इस उद्घाटन के बाद दो–ढाई महीनों तक मैंने बिना किसी ट्रेनिंग के, केवल साहित्य पढ़कर उसके सहारे बुनियादी शिक्षा का काम किया। इन

दिनों मैंने बुनियादी तालीम को यों समझा कि मेरे पिताजी की स्वर्णकारी की दुकान में जब मैं काम सीखता था और पिताजी की मदद करता था, तब मेरे पिताजी मुझ से काम तो कराते थे, औजारों का तथा रसायनों का उपयोग तो सिखाते थे, पर स्वर्णकारी के कार्य की मार्फत मुझे भूगर्भ विद्या, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, रसायन शास्त्र, गणित आदि का जो बौद्धिक ज्ञान दिया जा सकता वह ज्ञान नहीं देते थे। तो बुनियादी शिक्षा की पहली तस्वीर जो मैंने बनाई वह यह थी कि यह तालीम ऐसी है जो हुनर या काम को सिखाती है पर साथ साथ उस हुनर या काम से जोड़–जोड़कर कर प्रासंगिक बौद्धिक ज्ञान भी देती है। इस तसव्वुर या संकल्पना पर मैंने बिना किसी ट्रेनिंग के अपना काम शुरू किया। पर दो–तीन माह बाद ही विद्या भवन ने जुलाई 1941 में जामिया मिलिया के इस ''उस्तादों के मदरसे'' में मुझे बुनियादी तालीम की ट्रेनिंग प्राप्त करने हेतु पूरे सालभर के लिए भेज दिया। जनाब सईद साहब प्रिसिंपल थे और जनाब सलामतुल्लाह साहब खास उस्तादों के उस्ताद थे। और भी गुरुजन थे जो हमें बड़ी मोहब्बत से हुनर का काम भी सिखाते थे और हुसूले तालीम के उसूल समझाते थे। तालीम का माध्यम उर्दू जबान थी। ब्लैक बोर्ड पर नोट्स उर्दू लिपि में लिखे जाते थे। सौभाग्य से मैं उर्दू लिपि जानता था। तो मुझे दिक्कत नहीं हुई और सालभर में उर्दूजबान से मेरा खासा अच्छा नश्वोनमां (अभ्यास) हो गया। हालांकि अब उतना अभ्यास नहीं रहा। पर उर्दू से मुझे बहुत फायदा हुआ। अब एक याद को ताजा करने के लिए क्षमा करें। हमारे साथ ट्रेनिंग लेनेवाले एक साथी थे जनाब रशीद नोमानी। उनकी जबान पर एक लाइन बार–बार गुनगुनाई जाती थी। ''काहे न गाता रे पंछी बावरिया?'' एक दफा हम साथियों के बीच उन्होंने फिर यही लाईन गुनगुनाई तो मैंने जवाब दिया '' क्योंकि न सुनता है पंछी थावरिया।'' थावरिया साहब उस्तादों के मदरसे में एक बूढ़े हरिजन थे जो बड़ी मुश्किल से सुनते थे।

मैं बुनियादी शिक्षा की ट्रेनिंग लेने तो आया, लेकिन खादी नहीं पहनता था। तो इस उस्तादों के मदरसे में ही मुझे खादी पहनने की प्ररेणा मिली। नतीजतन न केवल मैं आज तक खुद खादी पहन रहा हूं बल्कि मेरी श्रीमती भी लगातार खादी पहनती जा रही हैं। हमें खादी पहनने का आज तक कोई पछतावा नहीं हुआ।

ट्रेनिंग लेनेवाले हम लोगों का सबसे बड़ा सौभाग्य यह था कि दस दिनों तक एक पीरियड में हमें स्वयं जाकिर साहब ने पढ़ाया यानी उन्होंने हमारी क्लास ली। उन्होंने हमें बुनियादी तालीम का बुनियादी फलसफा (दर्शन) समझाया तथा उसके उसूल बताए। हमें उन्होंने बताया कि जैसे खुराक के बारे में या कपड़े के बारे में सोचा जाता है कि एक मनुष्य की मिनिमम जरूरत कितनी खुराक की या कितने कपड़े की हो सकती है, वैसे ही एक स्वाधीन तथा लोकतांत्रिक देश की मिनिमम तालीमी खुराक उसके हर नागरिक के लिए कैसी तथा कितनी चाहिए इसका जवाब है बुनियादी शिक्षा। जाकिर साहब से यह बात समझने के बाद हमने उनसे अपनी कक्षा में दो सवाल किए थे जिनका उन्होंने बहुत माकूल जवाब दिया था।

हमारा पहला सवाल था कि बुनियादी तालीम में बच्चों को हाथ का हुनर क्यों सिखाया जाता है। इसकी जरूरत क्या है? इसका जवाब जाकिर साहब ने यह दिया था कि सात से चौदह साल की उम्र के विद्यार्थियों की फितरत (स्वभाव) में है कि वे अपने हाथों से काम लेना चाहते हैं, उनसे कुछ बनाना बिगाड़ना चाहते हैं। तालीम का उसूल यह है कि तालिबेइल्मों या विद्यार्थियों की नैसर्गिक रुचि या उनकी फितरती दिलचस्पी के काम को

उनकी तालीम का मरकज (माध्यम) बनाया जाए। तो इस उम्र के बच्चों की नैसर्गिक रुचि को बीच में रखकर ही बुनियादी तालीम में हाथ के हुनर को तालीम का मरकज माना गया है। हाथ के काम से बच्चों को महरूम या वंचित कर देना तथा उनको लगातार किताबों में ही उलझाकर रखना तो बच्चों पर, यानी उनकी फितरत पर जुल्म या ज्यादती है। बच्चों पर होने वाली आज के स्कूलों की इस ज्यादती से बुनियादी तालीम बच्चों की रक्षा करेगी।

दूसरा सवाल, जो हमारी क्लास के साथियों ने जाकिर साहब से पूछा था, यह था कि बुनियादी तालीम ऐसा क्यों कहती है कि बच्चों के उद्यम या उनकी दस्तकारी से कुछ ठोस कमाई होनी चाहिए? क्या यह चाइल्ड लेबर एक्स्प्लायटेशन या बालश्रम का शोषण नहीं है जैसा कि बुनियादी शिक्षा के निंदक एवं आलोचक लोग लगातार शोर मचा रहे हैं? इस सवाल का जो जवाब जाकिर साहब ने दिया था बहुत ध्यान देने और याद रखने काबिल था। उन्होंने कहा कि जिस दस्तकारी या उद्यम को केवल खेल या मनोरंजन के लिए ही नहीं बल्कि तालीम हासिल करने के लिए करना है, उस काम में तरतीब तथा जिम्मेदारी की भावना लानी होगी। बच्चे मेहनत तो करें पर उससे कोई नफा या कमाई न हो तो मानना होगा कि मेहनत और कच्चे माल की बरबादी हुई, जिससे तालीम तो नहीं हो सकती। इसलिए बुनियादी तालीम में जो काम बच्चे करेंगे उससे नफा या कमाई होने को रोका तो नहीं जा सकता। ढंग से काम होगा तो कमाई को कैसे रोका जा सकेगा? हां, अगर उस कमाई या लाभ में बालकों के परिश्रम का शोषण रूपी पाप नजर आता हो, तो बच्चों के काम से होने वाली कमाई को हम समंदर में फेंक सकते हैं ताकि हमें ''चाइल्ड लेबर एक्सप्लायटेशन'' का पाप तथा अपयश नहीं झेलना पड़े। जिन बुद्धिजीवियों का निहित स्वार्थ मैकालेवादी शिक्षा प्रणाली से जुड़ा हुआ है और जिनको कोरी किताबी रटंत में तो बच्चों पर जुल्म नजर नहीं आता और जिन्हें हाथ के हुनर में बच्चों पर जुल्म और बेरहमी नजर आती है उनको जो जवाब डॉ. जाकिर हुसैन ने हमारी कक्षा में दिया था, उससे बेहतर जवाब दूसरा हो नहीं सकता।

खैर सन् 1942 की गर्मियों में अपनी ट्रेनिंग खत्म करके मैंने उस्तादों के मदरसे से विदा ली और मैं उदयपुर में अपने बुनियादी मदरसे में काम करने के लिए फिर से पहुंच गया। मेरे सामने काम बहुत ही मुश्किल था। स्कूल जरा एकांत में था। रात में भयावह भी हो जाता। स्कूल के लिए विद्यार्थियों को जुटाना एक भारी चुनौती थी। माता–पिता मुझे यों बोलते थे कि खेतीबाड़ी तथा मेहनत मशक्कत उनके घरों में भी मौजूद है अतः स्कूल में भी खेतीबाड़ी और सूत कताई से छुटकारा नहीं है, तो हम अपने बच्चों को स्कूल क्यों भेजें? स्कूल से चार–चार मील के दायरे में, मैं स्कूल के लिए बच्चे जुटाने के लिए लगातार फेरी लगाता था। इस बात को मैं समझाने का प्रयत्न करता था कि यह गांधीजी द्वारा नई निकाली गई तालीम ऐसी है जो आपके घर का, आपके गांव का तथा आपकी खेतीबाड़ी का सुधार करेगी और आपका बच्चा नौकरी का ही मोहताज नहीं बनेगा जैसा कि पहलेवाली शिक्षा से होता रहा है। फलस्वरूप धीरे–धीरे स्कूल में छात्रों की संख्या बढ़ने लगी। इधर पड़ोस की देशी रियासत डूंगरपुर के महारावल ने 15 भील विद्यार्थियों को इस कारण अपने स्कूल से निकाल दिया कि इन लड़कों ने भारत छोड़ों आंदोलन के एक जुलूस में भाग लिया था। तो ये 15 विद्यार्थी उदयपुर आकर मेरे स्कूल में भर्ती हुए। इनके लिए छात्रावास की व्यवस्था भी की गई। तो इस प्रकार मेरा बुनियादी मदरसा चल निकला।

बुनियादी शिक्षा के मूल सिद्धांत थे कि शिक्षा

मातृभाषा के माध्यम से दी जाए, शिक्षा के पाठ्यक्रम में लगभग आधा समय उत्पादक उद्यम को दिया जाए और विद्यार्थियों को जो कुछ भी जानकारी दी जाए या पढ़ाया जाए उसका समवाय, या रब्त या कॉरिलेशन विद्यार्थियों के बुनियादी उद्यम कार्य से किया जाए अथवा विद्यार्थियों के समाज से या विद्यार्थियों के स्थानीय भौतिक परिवेश से किया जाए। अंतिम सिद्धांत यह था कि विद्यार्थियों के उद्यम में बरबादी नहीं बल्कि उससे कमाई होनी चाहिए। तो यह काम काफी कठिन तथा नया था और मुझे जो साथी अध्यापकों के रूप में मिले थे वे तो औपचारिक शिक्षा से निकले हुए सामान्य शिक्षक थे। पर मेरा एक सौभाग्य यह था कि ये लोग लचीले थे, नई बात सीख सकते थे क्योंकि ये किसी भी प्रकार की टीचर ट्रेनिंग के कठोर, बेलोच और घमंडी बने हुए नहीं थे यानी ये लोग अनट्रेंड होने से नई बात सीखने की क्षमता एवं नम्रता रखते थे। मैंने इनको बुनियादी तालीम की प्रणाली में ढालने के लिए एक प्रयोग यह किया कि स्कूल में विद्यार्थियों के ठहरने के समय में तो एक घंटे की कटौती कर दी और उस घंटे में शिक्षकों को स्कूल में ही रोका। मैंने शिक्षकों से कहा कि आपको कल क्या पढ़ाना है और उसका समवाय या कॉरिलेशन उद्यम से या बच्चे के सामाजिक या प्राकृतिक परिवेश से कैसे होगा, इस पर सोचिए तथा कल जो कुछ तथा जैसे पढ़ाना है उसकी लिखित तैयारी कीजिए। तो एक घंटे तक हम सब शिक्षक एक ही कमरे में बैठ कर कल के शिक्षण की समवायी तैयारी करते और और अपनी कठिनाइयों पर एक–दूसरे से चर्चा करते। मुझे यह कहते हुए बहुत खुशी है कि इससे हमें बुनियादी शिक्षा की स्पिरिट अथवा उसका तत्व पकड़ने में बहुत आसानी हुई तथा अच्छी कामयाबी मिली। हमें यह बात समझ में आई कि बुनियादी शिक्षा कोई बिना पेंदे की हवाई शिक्षा नहीं है बल्कि उसका एक पेंदा है, इसकी एक जड़ है, उसका एक मूलाधार है। वह एक बाबुनियाद शिक्षा है, जिससे उसका बुनियादी शिक्षा का नाम सही है। इसके साथ ही हमें ऐसा भी लगा कि अगर शिक्षक लोग अपने स्कूल में ही मिलजुल कर अपने दैनिक शिक्षण पर सहचिंतन करें तथा पहले तैयारी करके बाद में विद्यार्थियों को पढ़ाएं, तो जिन विद्यालयों में वे छात्रों को शिक्षा देते हैं वे ही विद्यालय उनके प्रशिक्षण के विद्यालय भी बन सकते हैं और आज हमारे देश में प्रशिक्षण विद्यालयों की जो अलग व्यवस्था खड़ी हो गई है उसे गैरजरूरी मानकर खत्म किया जा सकता है।

इस प्रकार स्कूल के उद्यम की, स्थानीय सामाजिक परिवेश की तथा स्थानीय प्राकृतिक परिवेश की शिक्षात्मक संभावनाओं का हमें सहज दर्शन होने लगा। हमें लगा कि शिक्षा उद्यम में छिपी है, शिक्षा छात्र के सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश में भी छिपी है और जरूरत इस बात की है कि हम इन संभावनाओं को देखने की दृष्टि पैदा करें। इस दृष्टि को पैदा करने में हमें लगा कि हम अपने शरीर श्रम से, अपने स्थानीय परिवेश में काफी सुधार कर सकते हैं। स्कूल से गांवों में पहुंचने के जो ग्रामीण मार्ग थे, खासकर बारिश में उनमें न केवल कीचड़ बहुत रहता था बल्कि कभी–कभी तो सौ पचास फीट की दूरी तक पूरे रास्ते में पानी भरा हुआ रहता था। तो स्कूल के विद्यार्थियों ने सामूहिक श्रमदान द्वारा इन रास्तों में लगभग तीन फीट चौडी ऊंची पगडंडी का निर्माण किया ताकि कीचड़ एवं भरे हुए पानी से बचकर ग्रामीण लोग आराम से अपने गांवों में आ जा सकें। हम समर्थ हैं, हम कुछ कर सकते हैं, सहयोग में शक्ति हैं। ऐसे संस्कार विद्यार्थियों में पड़ने लगे, जिनको गांववालों ने भी समझा तथा सराहा। बच्चों का सामूहिक तथा सहयोगी श्रम जब खेती बाड़ी में भी लगता और ग्रामसेवा के श्रमदानों में भी लगता, तो विद्यार्थियों में एक दूसरे के प्रति मित्रता एवं इज्जत

बढ़ती। वे मानने लगे कि दूसरा विद्यार्थी मेरे लिए खतरनाक प्रतियोगी या कंपीटीटर नहीं है बल्कि वह हमारा सहारा है, साथी है, सहयोगी है। हम देखते हैं कि मैकालेवादी शिक्षा पूरी की पूरी, एड़ी से चोटी तक प्रतियोगिता के भय से बच्चों को ग्रस्त तथा त्रस्त रखती है। उसके खिलाफ मेरे स्कूल की बुनियादी शिक्षा थी जो विद्यार्थियों के बीच स्नेह, मैत्री, सहयोग, एवं एक आश्वासन का संबंध स्थापित करती थी। ग्रामवासियों को हमारे स्कूल की इन श्रमसेवाओं से आवागमन की अपनी कठिनाइयों में राहत मिलती थी। नतीजा यह होता कि गांव के लोग शिक्षा तथा स्कूल को एक बिलकुल नए रूप में देखने लगे। उनको हमारा स्कूल अच्छा लगने लगा और उनके सामने यह रहस्य खुलने लगा कि यदि मनुष्य अथवा जनता सहयोगपूर्वक स्वैच्छिक श्रमदान करें तो उनकी समस्याएं हल हो सकती हैं। इस अनुभव से हमें लगा कि बुनियादी शिक्षा प्रतियोगी शिक्षा के बजाए सहयोगी शिक्षा का एक नया विकल्प हैं।

हम अपने स्कूल में अपनी विभिन्न कक्षाओं का पाठ्यक्रम क्या रखें तथा विद्यार्थियों को कौनसी टेक्स्ट बुक या पाठ्यपुस्तक पढ़ाएं, इसकी हमें पूरी स्वतंत्रता या स्वायत्तता हमारे राजकीय शिक्षा विभाग की तरफ से मिली हुई थी। सरकारी स्कूल इंस्पेक्टर हमारे स्कूल में एक–दो बार आए जरूर पर अंत में वह यह बोले कि आपके स्कूल का इंस्पेक्शन मेरे बस की बात नहीं है। इससे प्रोत्साहित होकर हम लोगों ने अपने स्कूल के लिए सभी विषयों का अपना ही मौलिक पाठ्यक्रम बनाना शुरू किया। हमारे स्कूल के अहाते के बीच में एक बड़ी नहर थी। हमारे पड़ोस में कुछ मंदिर थे। कुछ कृत्रिम झीलें थीं। हमने अपने पाठ्यक्रम में अपने पड़ोस के मंदिरों, तालाबों, गांवों, पहाड़ों, उद्योग–धंधों को स्थान दिया। हमारा स्थानीय सामाजिक एवं प्राकृतिक परिवेश हमारे अध्ययन का मूल एवं प्रमुख विषय है, ऐसा मानकर हमने अपना पाठ्यक्रम विकसित किया। आज हमारे स्कूलों में जो पाठ्यक्रम होता है, वह सारे राज्यप्रदेश के लिए बिल्कुल एक समान होता है। उस पाठ्यक्रम में देश विदेश के बड़े–बड़े पहाड़ों, बड़े–बड़े शहरों, बड़ी–बड़ी नदियों, बड़े–बड़े जंगलों, बड़ी–बड़ी खानों की जानकारी को तो स्थान होगा, पर स्कूल के पड़ोस में जो पहाड़ है, नदी है, गांव, शहर या झीलें हैं या जंगल है या खानें हैं, उनकी जानकारी प्राप्त करने का कोई प्रावधान हमारे आज के स्कूलों के पाठ्यक्रम में नहीं होता। नतीजा यह होता है कि विद्यार्थी अपने आसपास के सामाजिक, आर्थिक, प्राकृतिक परिवेश की दृष्टि से बिल्कुल कटा हुआ, अज्ञानी, अजनबी तथा तटस्थ हो जाता है। उसे लगता है कि वह अपने परिवेश में जीने तथा खपने के लिए तालीम नहीं पा रहा है बल्कि अपने परिवेश से एक्स्पोर्ट या निर्यातित होने के लिए तालीम पा रहा है। तो जब हमने अपने स्कूल के परिवेश से जुड़ा हुआ पाठ्यक्रम अपने स्कूल के लिए खुद ही विकसित किया, तो हमने बुनियादी शिक्षा की एक नई तस्वीर उभरती देखी, उसका एक नया स्वरूप, नया अर्थ उभरते देखा। हमें लगा कि बुनियादी शिक्षा एक ऐसी शिक्षा है, जिसे हम ''देशकाल और पात्र की संयुक्त शिक्षा'' या प्राकृतिक परिवेश, सामाजिक परिवेश तथा विद्यार्थी की 'इंटीग्रेटेड' शिक्षा का नाम दे सकते हैं। इस दृष्टि से जब हाथ के हुनर को, दस्तकारी या उद्यम को भी हम परखेंगे तो हमें समझ में आएगा कि उद्यम एक त्रिवेणी संगम है, जहां प्राकृतिक परिवेश से तो कच्चामाल पहुंचता है, उद्यमी व्यक्ति का श्रम तथा दिमाग जिसमें लगता है और जो वस्तु बनती है वह समाजोपयोगी होती है। इस प्रकार बुनियादी स्कूल में जो उद्यम है वह प्रकृति, व्यक्ति एवं समाज इन तीनों का मिलन केंद्र बन जाता है। तो बुनियादी शिक्षा का जो एक नया अर्थ हमारी समझ में आया, वह यह

था कि बुनियादी शिक्षा विद्यार्थी एवं उसके सामाजिक, आर्थिक एवं प्राकृतिक परिवेश की अविभक्त अथवा एकीकृत अथवा इंटीग्रेटेड शिक्षा है। इसके विपरीत हमारे आज के औपचारिक स्कूल विद्यार्थी को उसके परिवेश से काट करके जो शिक्षा देते हैं, उसी का नतीजा है कि जैसे–जैसे व्यक्ति या मनुष्य स्कूलित होता जाता है वैसे–वैसे सामाजिक परिवेश भ्रष्ट होता जाता है और पर्यावरण प्रदूषित होता जाता है।

इसके अलावा जो बात हमने इस प्रयोग से समझी वह यह थी कि बुनियादी शिक्षा तो शिक्षा की विषयवस्तु या उसके पाठ्यक्रम का स्थानीय स्थितियों के साथ अनुकूलीकरण अथवा अनेकीकरण अथवा उसका विविधीकरण है ताकि बुनियादी शिक्षा का विद्यार्थी अपने स्थानीय परिवेश में अच्छी तरह जम सके और उसे अपने परिवेश से उखड़कर निर्यातित नहीं होना पड़े।

इसके बाद एक प्रयोग जो मैंने किया वह इस प्रकार था। मेरे स्कूल में विद्यार्थी काफी दूर–दूर से पैदल आते थे और पैदल ही घर लौटते थे। कई विद्यार्थियों को स्कूल पहुंचने में देर हो जाती थी। इस पर मैंने एक प्रयोग शुरू किया। स्कूल का कार्यारंभ प्रार्थना सभा से होता था। एक दिन मैंने प्रार्थना सभा में यह प्रश्न पूछा कि पहली कक्षा में कितने विद्यार्थी देर से आए। इसी प्रकार, हर कक्षा के बारे में पूछा। अब मैंने कहा कि पहली कक्षा में जो विद्यार्थी देर से आए हैं उन पर प्रति विद्यार्थी एक पैसा, दूसरी कक्षा में देर से आनेवाले पर प्रति विद्यार्थी दो पैसा और इसी प्रकार बढ़ाते–बढ़ाते जो सातवीं कक्षा के विद्यार्थी देर से आए हैं उन पर प्रत्येक पर सात पैसा, इस हिसाब से जुर्माना मैं स्वयं प्रतिदिन दूंगा और यह पैसा छात्रकोष में जमा होगा। आज तो पैसा छोड़ कर दस पैसे की भी कोई वकत नहीं है, पर उस जमाने में एक पैसे की भी वकत थी। तो चार–पांच आने मेरे रोज खरच होने लगे। पर परिणाम यह हुआ कि धीरे–धीरे विद्यार्थियों का देर से आना बहुत कम पड़ गया और ठोस वास्तविक कारणों से ही कोई विद्यार्थी देर से पहुंचता। पर परिणाम इतना ही नहीं हुआ। धीरे–धीरे विद्यार्थी प्रार्थना सभा में खड़े होकर यों बोलने लगे कि जुर्माने के पैसे वे खुद ही भरेंगे, और मुझे नहीं भरने देंगे। इस पर मेरा जवाब यह था कि तुम यदि जुर्माना भरोगे तो पैसा तो तुम्हारे पिताजी से आएगा। तो इतना सा जुर्माना भरने के लिए तुम मुझे ही अपना पिता नहीं मान सकते? क्या किसी अर्थ में तुम मेरी संतान भी नहीं हो।

धीरे–धीरे मेरी समझ में यह बात गहराई तक बैठती गई कि शिक्षा हमें भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, खेती या कताई आदि विषयों की नहीं करनी है, शिक्षा तो हमें अपने विद्यार्थियों में बसे हुए इंसानों की करनी है। इंसान को विश्वनीय, नेक, स्नेही, सेवाभावी, स्वस्थ, संयमी, स्वावलंबी बनाना शिक्षा का मूल काम तथा मूल दायित्व है। भाषा, भूगोल, गणित, विज्ञान इतिहास तथा हाथ का हुनर सिखा देना शिक्षा को मूल काम नहीं है। इसलिए कम से कम प्रारंभिक शिक्षा में तो हमें विषय–शिक्षकों से छुट्टी पा लेनी चाहिए और कक्षा शिक्षकों से काम लेना चाहिए। मैं भाषा शिक्षक, या गणित शिक्षक, या विज्ञान शिक्षक या कताई शिक्षक या भूगोल या इतिहास शिक्षक नहीं हूं बल्कि मैं पहली या दूसरी या तीसरी या चौथी या सातवीं कक्षा के छात्रों का शिक्षक हूं, ऐसा परिचय शिक्षकों का होना चाहिए। बेसिक स्कूल कोई हाई स्कूल, या कॉलेज या यूनिवर्सिटी तो नहीं जहां अलग–अलग विषयों के निष्णात विशेषज्ञ ही अपना–अपना विषय पढ़ावें। बेसिक स्कूल तो हर नागरिक की न्यूनतम आवश्यक शिक्षा की खुराक मात्र है। इसमें विषयविषेज्ञता के आधार पर शिक्षक क्यों नियुक्त हों? एक शिक्षक एक कक्षा को

सभी विषय क्यों नहीं पढ़ा सकता है या सिखा सकता है? इस प्रश्न पर हमने सोचा, तो हमें यह बात समझ में आई कि शिक्षक तथा शिष्य के बीच व्यक्तिगत लगाव या सगेपन का, दोनों के बीच पारस्परिक जिम्मेदारी का रिश्ता गहरा कायम हुए बिना न तो शिक्षक विद्यार्थियों के लिए एक आदर्श प्रेरणा–स्रोत बनने का प्रयत्न करेगा और न विद्यार्थियों में अपने आचरण द्वारा अपने शिक्षक की इज्जत बचाने की प्रेरणा जागेगी। शिक्षकों को केवल तनख्व्वाह ही नहीं कमानी है, शिक्षकों को एक नई प्रकार की संतान यानी शिष्य कमाने हैं। मैं अमुक का शिष्य हूं और मैं अमुक का गुरु हूं ऐसा लगाव, ऐसा सगापन, ऐसा दायित्वपूर्ण रागात्मक संबंध कम से कम प्राथमिक स्कूलों में तो पैदा होना ही चाहिए और तभी स्वामी विवेकानंद का मैंन मेकिंग एज्यूकेशन का सपना पूरा हो सकता है। ऐसा सोच समझ कर मैंने अपने स्कूल में विषयगत शिक्षक प्रथा को समाप्त किया और कक्षागत शिक्षक प्रथा शुरू की। मैं यहीं तक नहीं रुका। मैंने यह प्रथा भी शुरू की कि इस वर्ष जो शिक्षक पहली कक्षा को पढ़ा रहे हैं, अगले वर्ष उसी कक्षा के विद्यार्थियों के साथ रहें और उन्हें दूसरी कक्षा में पढ़ावें। इस प्रकार शिक्षक एक ही छात्रमंडली के साथ जितनी कक्षाओं तक जा सके, जरूर जाए। मेरा कहना यह है कि यदि कक्षा के विद्यार्थी पढ़ते–पढ़ते आगे की मंजिल पर चढ़ सकते हैं, तो कक्षा का शिक्षक भी पढ़ाते–पढ़ाते आगे की मंजिल पर क्यों नहीं चढ़ सकता। मैं इस बात का कायल बन गया था कि विद्यार्थियों को अपने शिक्षक से और शिक्षक को अपने विद्यार्थियों से जीवन भर के स्थाई अपनेपन के लगाव के साथ बंध जाना चाहिए। जैसे विद्यार्थी कहता है कि मैं अमुक बाप का बेटा हूं वैसे ही विद्यार्थी को यह भी कहने का अवसर तथा गर्व होना चाहिए कि मैं अमुक गुरु या शिक्षक का शिष्य या छात्र हूं। ऐसी व्यवस्था शिक्षा की जब तक नहीं होगी, शिक्षकों की गैरजिम्मेदारी तथा लापरवाही अपने शिक्षण कार्य में नहीं मिटेगी। जैसे माता–पिता का तबादला नहीं किया जा सकता है, वैसे ही शिक्षक का तबादला भी नहीं हो सकता है। शिक्षण और सरकारी कर्मचारीपन बिल्कुल अलग चीजें हैं। शिक्षक होना तो रिश्तेदार बनना है। जैसे रिश्तेदारी स्थाई होती है वैसी ही शिक्षक छात्र संबंध जीवनभर के लिए स्थाई होना चाहिए। इस सूझबूझ से मेरे स्कूल में जो शिक्षण कार्य हुआ, उससे मेरे स्कूल के छात्रों में एक चरित्र पैदा हुआ, जिसे आसपास के ग्रामीण जीवन में एक नई भावना, एक नई ताजगी पैदा हुई। सबसे मुख्य बात यह हुई कि जो भी शिक्षक मेरे साथ काम करके गए उन्होंने माना कि मेरे स्कूल में उनको शिक्षा में एक नई दृष्टि मिली, जो उन्हें किसी भी ट्रेनिंग स्कूल से नहीं मिल सकती थी। हमें जो दृष्टि मिली वह यह थी कि बुनियादी शिक्षा वह शिक्षा है, जिसे हम छात्र एवं शिक्षक की संयुक्त शिक्षा कह सकते हैं। इस प्रकार हमें बुनियादी शिक्षा का एक नया मतलब समझ मे आया। मैं यह मानने लगा कि विद्यार्थी की शिक्षा करने की प्रक्रिया से यदि गुरु की शिक्षा आगे नहीं बढ़ती तो वह शिक्षा नहीं है और वह बुनियादी शिक्षा तो हरगिज भी नहीं है। उदयपुर की स्थानीय लोकवाणी में कृपया ये पंक्तियां सुनिए–

यदि गुरु गुरु है शिष्य रो, तो शिष्य है गुरु रो गुरु।

पारस्परिक शिष्यत्व सूं, व्है, उभय री शिक्षा शुरू।

शेष अगले अंक में ...

दयाल चंद्र सोनी : विद्या भवन बुनियादी मदरसे के प्रथम प्रधानाध्यापक (1941) एवं प्रमुख गांधीवादी विचारक।

कैसे करें लेखन कला का विकास

जितेंद्र कुमार

अभिव्यक्ति की एक कला ''लेखन'' भी है। लेखन एक माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने विचार को उस व्यक्ति के पास पहुंचाना चाहते हैं, जो हमारे समक्ष नहीं होता है। यह भी सत्य है कि कभी–कभी लेखन का उद्देश्य विषयवस्तु से अलग होता है, जैसे सूचना के लिए, याद रखने के लिए इत्यादि। लेकिन सभी परिस्थितियां किसी न किसी से संबंधित बातें ही होती हैं, जैसे यदि मैं डायरी लिखता हूं,, तो अपने अनुभव को संजो कर रखता हूं और संभवतः किसी दिन मैं इसे पढ़ूंगा।

लेखन कला को विकसित करने के लिए जब शिक्षक के रूप में चर्चा करें, तो उस पक्ष को वार्तालाप के संदर्भ में देखना चाहिए। बच्चे जब पहली बार स्कूल जाते हैं, तो उनमें भी बातचीत की कला होती है, जो उनके परिवेश से मिलती है। यहां परिवेश का अर्थ जिस वातावरण से आता है या जिससे मिलता है (माता–पिता, भाई–बहन, मित्र, रिश्तेदार इत्यादि)। और यहीं से उसमें बातचीत की कला का विकास शुरू हो जाता है। इसी बातचीत की कला को यदि हम दूसरे लोगों से जोड़ने की कोशिश करते हैं तो उनकी लिखने की क्षमता का विकास होता जाता है। अतः हमें शिक्षक के रूप में यह सुनिश्चित करना चाहिए कि बच्चे लेखन कला को बातचीत के संदर्भ में देखें।

बच्चों को लेखन कला यांत्रिक तरीके से सिखाई जाती है। उन्हें सबसे पहले वर्णमाला के अक्षरों से अवगत कराया जाता है और बार–बार लिखाया जाता है। एक शिक्षक के रूप में हम यही परीक्षण करते रहते हैं। यह प्रक्रिया कई सप्ताह या महीनों तक स्कूल में चलती रहती है। इस पूरी प्रक्रिया में लेखन का औचित्य ही समाप्त हो जाता है। अतः जब बच्चे को कोई शब्द या उससे संबंधित वाक्य लिखने के लिए कहा जाता है, वह शिक्षक को देखता है कि क्या लिखे? वह लिखने का आशय ही भूल जाता है और यह समझता है यह किसी प्रकार का अभ्यास है, जिसे शिक्षक ने उसे सिखाया है। इस परिस्थिति से निकलने के लिए यह समझना होगा कि बातचीत भी लेखन की एक विस्तारित प्रक्रिया है।

लेखन कला का आरंभ

शिक्षक जिन बच्चों के साथ कार्य कर रहा है; अपने मूल्यांकन के द्वारा लेखन की क्रिया हेतु, समय और उम्र सुनिश्चित करता है। यदि बच्चों के हाथों एवं उंगलियों में चित्रांकन एवं दूसरी गतिविधियों के लिए पर्याप्त लचीलापन और नियंत्रण हो तो आप लिखवाना शुरू कर सकते हैं। जो बच्चे पाठ्यपुस्तक या अन्य पुस्तकों से अवगत हैं, स्वयं ही लिखने की मांग शुरू कर देते हैं। यह शिक्षक का कार्य आसान कर देती है। जब बच्चे मांग करते हैं, तो वह उस क्षण कोई कार्य जरूर करना चाहते हैं। यदि यह मांग थोड़ी–थोड़ी करके जब टाल दी जाती है, तो वे मांग से पीछे हट जाते हैं। लेकिन कुछ दिनों के बाद फिर वे अपनी मांग दुहराते हैं। इसी तरीके से बच्चे अपनी कला को विकसित करते हैं और लिखने की कला भी इससे अलग नहीं है।

जब आप बच्चे को लिखना सिखाते हैं, तो पहले बच्चों से पूछना चाहिए कि वे क्या लिखना चाहते हैं। यदि बातचीत के क्रम में आप 'लिखना' शब्द का भी उपयोग करते हैं, तो बच्चों को परेशानी नही होती है। लेकिन यदि आपको लगता है कि बच्चे नहीं जानते हैं कि आप क्या चाहते हैं, तो आप उनसे उनके परिवेश से जुड़ी हुई चीजों के बारे में बात करके शुरू कर सकते हैं जैसे–

- कौन से जानवर से प्यार करते हैं?
- क्या खाना ज्यादा पसंद करते हैं?
- उन्हें किससे डर लगता है? आदि।

आप उन्हें इससे संबंधित एक शब्द को कॉपी या फर्श, जमीन पर लिखने के लिए कह सकते हैं। आप पाएंगे कि हर बच्चे ने अलग–अलग शब्द लिखा है। तब आप सारे बच्चों को उन शब्दों को लिखने को कहेंगे, जिन शब्दों को उन्होंने नहीं लिखा है। फर्श इसके लिए सबसे उपयोगी जगह हो सकती है, बशर्ते आपको इस फर्श को साफ करना पड़ेगा ताकि दुबारा उसे उपयोग में ला सकें। आप स्लेट बोर्ड, कार्ड बोर्ड, कॉपी या कोई भी वस्तु का उपयोग करें। एक चीज बहुत महत्त्वपूर्ण है कि आप वर्णमाला के उपयोग पर जोर ना डालें अन्यथा बच्चे लिखने का जो एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है कि यह भी बातचीत की कला है; उससे दूर होते चले जाएंगे।

शुरुआती लिखने की कला को विकसित करने के क्रम में बहुत सारे तरीके ऐसे हैं जिससे वर्णमाला को जोड़ सकते हैं। इस प्रकार यांत्रिक तरीके की शिक्षण व्यवस्था से बचा जा सकता है। जैसे शब्दों की एक लंबी सूची तैयार करना और उसमें से समान अक्षरों से शुरुआत करना। बच्चों को इस गतिविधि से अवगत कराना और उससे संबंधित शब्दों को खोजने के लिए प्रेरित करना। धीरे–धीरे जब इन शब्दों से पहचान बढ़ती चली जाएगी तब उन शब्दों की विशेषता पर बातचीत की जा सकती है। इसके बाद इन शब्दों की सूची बनाकर दीवार पर चिपका दें, जिससे बच्चे उसे आसानी से देख पाएं। कोई भी सामग्री जो बच्चों की पहुंच के बाहर है, वह अनुपयोगी होने के साथ बच्चों के लिए अपमानजनक भी हो जाती है।

शुरुआत के बाद, बच्चे जब लिखने की बुनियादी कला में पारंगत हो जाते हैं, तब शिक्षक के लिए शिक्षण कार्य सबसे ज्यादा व्यापक होता जाता है। इस व्यापकता के दो पहलू हैं–

1. किसको ध्यान में रखकर लिखना है?
2. क्या लिखना चाहते हैं?

किसको ध्यान में रखकर लिखना है, पर गौर करें तो समझ में आता है कि निश्चित तौर पर किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष की बात कही जा रही है। क्या लिखना है का अर्थ है कि हम क्या संदेश देने की कोशिश कर रहे हैं अर्थात् उद्देश्य। अक्सर बच्चे चाहे शब्द लिखें या शब्दों को जोड़कर वाक्य बनाएं

उसका कोई न कोई संदर्भ आवश्यक है। इस दुविधा से बाहर निकालने के लिए शिक्षक बच्चों को कुछ गतिविधियां करा कर सुझाव दे सकते हैं, जैसे बच्चा आपकी बगल में बैठा है या कोई बच्चा जो दूसरी क्लास में बैठा है के बारे में या अपने माता–पिता के बारे में, सोचकर उसे लिखने को कहा जा सकता है। कुछ चीजें जैसे उस कुत्ते के बारे में लिखना है, जो भोजनावकाश के समय आता है और चुपचाप बैठा रहता है, या किसी शहर, गांव आदि के बारे में। इस प्रकार ऐसे अवसर प्रदान किए जा सकते हैं जिस पर बच्चे सोचकर लिखें। बच्चे जैसे–जैसे बड़े होते हैं, उनका बातचीत का दायरा भी बढ़ता चला जाता है और वे समाज में बहुत नई चीजों से अवगत होते जाते हैं। उनके बारे में जानते हैं कि उनकी उस समाज में क्या विशिष्ट भूमिका है। शिक्षक को सभी बातों को देखते हुए अलग रणनीति अपनाते हुए बच्चों को विशेष रूप से उन चीजों या व्यक्ति के बारे में लिखने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर, किसी बच्चे को यह कहने के लिए कहा जाए कि वह कुत्ते को क्यों पसंद करता है और उसके क्या–क्या कारण हैं? बच्चे को प्रोत्साहित किया जाए कि उसे अपनी बात उस कुत्ते को समझानी है, तो वह अलग–अलग तरीके से सोचना शुरू करेगा। इस पूरी सोचने की प्रक्रिया में वह अलग–अलग शब्दों का चयन करेगा। लेकिन इस प्रक्रिया में बच्चे को शब्द और वाक्य अलग से सिखाने की आवश्यकता नही है। वह धीरे–धीरे अलग–अलग श्रोता के लिए अपने पसंद के शब्दों का चयन और उसका उपयोग करना सीख सकेगा।

''क्या कहना चाहते हैं'' यह बच्चे की अपनी समझ एवं उसके आत्मविश्वास पर निर्भर करता है। एक बच्चा जिसने उस चीज को कभी देखा नहीं है या उस घटना के बारे में सुना नहीं है और जब आप उससे पूछते हैं तो उसका आत्मविश्वास नहीं बढ़ता। ऐसे बच्चों को जब कुछ कहने या लिखने के लिए कहा जाता है, तो वे कुछ भी नहीं लिख पाते हैं। जो शिक्षक ऐसे बच्चों के साथ काम करते हैं उनके लिए परिस्थितियां थोड़ी कठिन हो जाती है। अतः शिक्षक को बच्चों का आत्मविश्वास बढ़ाना चाहिए, एवं उनके अनुभव एवं क्षमता को ध्यान में रखकर उस चीज से जोड़कर बताना चाहिए।

शिक्षक की भूमिका

बच्चे जैसे ही लिखना शुरू करते हैं उनका आगे बढ़ना शिक्षक की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। आज हमारे स्कूल में सिर्फ व्याकरण और अक्षर विन्यास पर ज्यादा जोर दिया जाता है। बच्चों की कॉपियां लाल रंग से अंकित की हुई मिलती हैं, जो शिक्षक की नकारात्मतक प्रतिक्रिया को दिखाती है। अगर बच्चे सही लिखते हैं, तो सिर्फ टीक (सही) चिह्न और शिक्षक का हस्ताक्षर दिखता है। ये दोनों ही खतरनाक हैं और प्रतिक्रिया आधी–अधूरी है। बच्चों की गलतियां सुधारने के अलावा शिक्षक को अपने विचार भी लिखने चाहिए, जैसे– यह आपको कुछ याद दिलाती है, यह अच्छी लिखी हुई है, और क्या लिखा जा सकता था, इत्यादि। ऐसे बहुत से तरीके हैं, जिससे उस लिखे हुए शब्द या वाक्य पर आप अपनी प्रतिक्रिया दे सकते हैं। आप बच्चों की लिखी हुई चीजों के बारे में बता सकते हैं कि यह किस प्रकार बातचीत की कला है, ना कि सिर्फ एक व्याकरण और वर्णमाला के कुछ शब्द।

यदि आप कॉपी देखते समय सिर्फ गलतियों को गोला लगाकर उसे दिखाते हैं, तो आप बच्चे की सिर्फ कमियां ही दिखा रहे हैं। ज्यादा महत्त्वपूर्ण यह है कि बच्चे के कौशल को दिखाएं और जहां पर सुधार की गुंजाइश है, वहां पर वैकल्पिक चीजों की बात करें। शिक्षक बच्चे की गलतियों को पहचानने में सहायता करें, जैसे कोई अक्षर विन्यास बार–बार गलत हो रहा है, तो उससे मिलता–जुलता शब्द दें और उसे उन शब्दों में से सही शब्दों को पहचानने के लिए प्रेरित करें। ऐसा दो–तीन बार करने से उसमें

सुधार आ जाता है। यदि शिक्षक बच्चे को गलतियां पहचानने में शामिल करते हैं, तो बच्चे अपने काम का मूल्यांकन करने में सक्षम होंगे।

कुछ गतिविधियां

परिचित वस्तुएं

बच्चों से रसोई के सामानों की सूची बनवाना और ऐसी दूसरी चीजें जो उनके परिवेश से मिलती–जुलती है, जैसे कपड़ों, जानवरों इत्यादि की भी सूची बनवाना। इन्हें सूचीबद्ध कर ब्लैकबोर्ड पर लिखें। इसके बाद बच्चों के दो समूह बनवाएं एवं उन सामानों की सूची के अनुसार बच्चों के नाम लिखें, जैसे सीमा–कप, प्रीति–गिलास। अब दूसरे समूह के बच्चे उस सामान की मांग करेंगे और वह बच्चा खड़ा होकर उस बच्चे को बताएगा कि उस वस्तु का नाम कैसे लिखते हैं?

निशान इकट्ठा करना

यह निर्भर करता है कि स्कूल कौन से क्षेत्र में है। बच्चों से पूछ सकते हैं कि उन्होंने स्कूल आते समय कौन–कौन–से निशान देखे थे जैसे पोस्टर, विज्ञापन आदि।

इसके पश्चात् बच्चों को सारे निशान स्लेटबोर्ड पर लिखना है और उसके बारे में बताना है कि उसे उन्होंने कहां देखा और उसका उपयोग कहां पर होता है।

शब्द पूरा करना

बच्चों का समूह बनवाकर शब्द देना और उससे वाक्य बनवाना।

पहेली

बच्चों का एक समूह बनवाएं, उन्हें एक पेपर दें और उस समूह में से एक बच्चा एक वाक्य सोचकर एक शब्द लिखेगा और अपने पास वाले बच्चे को दे देगा। यह पेपर एक बच्चे से दूसरे बच्चों में हस्तांतरित होता जाएगा और अंतिम वाले बच्चे को बताना है कि पहले वाले बच्चे ने क्या वाक्य सोचा होगा। इसी प्रकार से इस गतिविधि को आप दुबारा कर सकते हैं और एक नए शब्द से भी शुरू कर सकते हैं।

नक्शा बनाना

बच्चों से उनके घर जाने का रास्ता पूछेंगे और उनसे उस शब्द को लिखवाने की कोशिश करेंगे, जिसे वे देखते हैं जैसे मंदिर, सब्जी मण्डी, पीपल का पेड़, झाड़ियां आदि। यह शब्द उनको नक्शे में दिखाना होगा और जैसे–जैसे वे दूसरी जगहों पर जाएंगे शब्दकोश बढ़ता चला जाएगा।

आस–पास का क्षेत्र

यह पिछली वाली गतिविधि का ही थोड़ा विस्तृत रूप है, जैसे इसमें बच्चों को विशेष तरीके का नक्शा बनाकर उसमें वाक्य लिखना होगा, जिसमें वे थोड़े विस्तार से उस चीज का वर्णन करेंगे, जैसे स्कूल का पिछला हिस्सा इत्यादि।

कविता बनाना

अलग–अलग समूह को तीन–चार लाईन वाली कविता सुनाना और उनको उसमें 3–4 लाईन और जोड़ने को कहें। किसी कविता में कोई एक शब्द को बदल दें और फिर बच्चों को कहें कि अब आगे की लाइनों को बोलो और लिखो।

जितेन्द्र कुमार : कार्यक्रम समन्वयक, बालिका शिक्षा कार्यक्रम (केयर इंडिया), बिहार।

शिक्षण में कैसे आए वैज्ञानिक चिंतन

जगमोहन चोपता

उत्तराखंड के राजकीय विद्यालय में सेवारत रहे शिक्षक 'बालसखा' (बच्चों के प्यारे दोस्त) स्व. हेमराज भट्ट की स्मृति में उत्तरकाशी (उत्तराखंड) में 25 नवंबर, 2012 को अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन उत्तरकाशी जिला इकाई के द्वारा आयोजित शिक्षकों की चर्चा बैठक में विद्या भवन सोसायटी के श्री कमल महेंद्रू के द्वारा 'प्रारंभिक शिक्षण में वैज्ञानिक चिंतन' विषय पर दिए गए व्याख्यान का संक्षिप्त विवरण यहां प्रस्तुत किया गया है।

विगत तीन सौ सालों में वैज्ञानिक चिंतन की वजह से आज मानव सभ्यता इस मुकाम पर पहुंची है। विज्ञान का हमारे जीवन को बेहतर बनाने में बहुत बड़ा योगदान रहा है। आज देश के तौर पर यह जरूरत है कि स्कूल में पढ़ रहे हमारे नौनिहालों में वैज्ञानिक चिंतन बढ़े। इसके लिए जरूरी है कि हमारी शिक्षण प्रक्रिया, संवाद के तरीके वैज्ञानिक प्रक्रिया से लबरेज हों ताकि हमारे बच्चों में वैज्ञानिक सोच बढ़े। यह बात हेमराज भट्ट 'बालसखा' के स्मृति में आयोजित विमर्श में विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर से आए शिक्षाविद कमल महेन्द्रू ने 'प्रारम्भिक शिक्षण में वैज्ञानिक चिंतन' विषय में कही।

इस विमर्श के शुरूआत में शिक्षिका रेखा चमोली ने बालसखा स्व. हेमराज भट्ट के जीवन व साहित्य पक्ष पर विचार रखते हुए कहा कि बालसखा एक शिक्षक होने के साथ ही एक बेहतर साहित्यकार थे। उन्होंने जहां बेहतर शिक्षण का प्रयास किया वहीं कक्षा शिक्षण की प्रक्रिया को लिखने और उसको अन्य साथियों के साथ साझा करने का प्रयास भी किया। एक शिक्षक के रूप में हुए अनुभवों को उन्होंने बड़ी बेबाकी से अपनी डायरी में लिखा है, जो हम सब शिक्षकों को प्रेरणा देने वाला है।

शिक्षक राजेश जोशी ने हेमराज भट्ट की डायरी के अंशों का वाचन किया। वाचन के बाद उत्तरकाशी के चुनिंदा विद्यालयों यथा राजकीय प्राथमिक विद्यालय भड़कोट, पिलंग, मोताड़, बसंतनगर और डामटा के शिक्षक साथियों के शैक्षिक कार्य को विडियो और बातचीत के जरिए साझा किया।

संदर्भ सेवी कमल महेंद्रू ने 'प्रारंभिक शिक्षण में वैज्ञानिक चिंतन' विषय पर विमर्श की शुरुआत करते हुए कहा कि जिस विषय पर मुझे यहां अपने विचार साझा करने के लिए कहा गया है, उसको अलग–अलग दृष्टि से देखें, तो अलग–अलग नजरिया मिलता है। विज्ञान पढ़ाने की दृष्टि से हमारी क्या अपेक्षा रहती है? ये सवाल हम सोचना शुरू करें तो एक आम परिस्थिति सामने आती है। आम मां–बाप कहते हैं कि हमारा बेटा डाक्टर या वैज्ञानिक बन जाएगा। विज्ञान और गणित पढ़ा सकें ताकि कैरियर की संभावनाएं बन पाएं। इससे बच्चों पर अलग से दबाव बन जाता है। छोटी कक्षाओं से ही मेडीकल या इंजीनियरिंग की तैयारी शुरू हो जाती है। बड़े शहरों में इस तरीके की तैयारी कराने वाले बहुत से सेंटर खुल गए हैं।

इन अपेक्षाओं के साथ वैज्ञानिक चिंतन कैसे लाएं, ये चुनौतीपूर्ण है। रोचक बात है कि आज से नहीं आजादी से पूर्व भी शिक्षा के दस्तावेजों में वैज्ञानिक चिंतन की बात कही गई है। हमारे संविधान में नागरिकों के कर्त्तव्यों में वैज्ञानिक मानसिकता को बढ़ावा देने का उल्लेख किया गया है। संविधान निर्माताओं ने इस ओर ध्यान दिया, इतिहासकार इसका श्रेय नेहरू जी को देते हैं।

वैज्ञानिक चिंतन हो, इसका उल्लेख तो जरूर हुआ है। फिर सवाल उठता है कि, क्या यह उद्देश्य पूरा हो पा रहा है? मां–बाप की वाजिब उम्मीद है कि उनके बच्चे अपना कैरियर बना पाएं। इन दोनों में कोई विरोधाभास भी नहीं दिखता।

हम विकसित देशों की श्रेणी में आ गए, समृद्ध और प्रगतिशील बने, तो एक नया दौर हमारे देश में शुरू हुआ। छोटे–छोटे कस्बों से भी बच्चे अलग–अलग क्षेत्रों में बढ़ रहे हैं। हम विकसित देशों की ओर देखें, तो एक बात उभर कर आती है। विश्व में अग्रणी देश वे रहे हैं, जो नए ज्ञान और तकनीकी में अग्रणी रहे, जहां खोजें हुई हैं।

हमारे देश के नागरिकों में बहुत क्षमताएं हैं। अभी के दौर में देश आगे तो बढ़ा है, पर बहुत आगे हमको जाना होगा। आज हमें अपनी रोजमर्रा की जरूरतों की चीजों के लिए अन्य देशों द्वारा बनाए उत्पादों पर निर्भर रहना होता है। मोबाईल बनाने वाली कम्पनियां सब बाहर की हैं। इतनी नई–नई गाड़ियां बाजार में हैं, सब बाहर की हैं।

हमारे स्कूली तंत्र की एक जिम्मेदारी दिखती है कि वह ऐसे नागरिक तैयार करे, जो नए ज्ञान निर्माण, आविष्कारों–खोजों का नया दौर शुरू कर सके। शिक्षा के सभी अहम दस्तावेजों में वैज्ञानिक चिंतन की बात की गई है।

एक और दृष्टिकोण इससे आगे है, वह है मानवीय

ऐतिहासिक दृष्टिकोण। पिछले 400 सालों में विज्ञान और तकनीक ने हमारे जीवन और सोच को काफी प्रभावित किया है। इसका श्रेय विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन को जाता है। इस सोच ने हमारे जीवन के साथ ही हमारी सोच को भी बदला है। ब्रह्मांड के बारे मे स्थान की समझ को उल्टा–पुल्टा कर दिया है। इस सबका श्रेय विज्ञान विषय को दिया जाता है। इससे बहुत क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ है।

आज सामान्य तौर पर बच्चे इस सोच के साथ बड़े होते हैं कि पृथ्वी सूर्य के चक्कर काटती है। 400 साल पहले कोई भी ये कहता कि पृथ्वी सूर्य का चक्कर काटती है तो उसका बहुत बुरा हश्र होता। उस दौर में जिसने भी ये हिम्मत की उसको प्रताड़ित–दंडित किया गया।

कोपरनिक्स ने ब्रह्मांड की समझ पर सूर्य को केंद्र मानकर किताब लिखी, पर उसके प्रकाशन करने की उसकी हिम्मत नहीं हुई थी। प्रकाशन के 40 साल बाद गैलीलियो ने इसे पढ़कर इस विचार को आगे बढ़ाया। उन्हें इसके लिए नौकरी से हटा दिया गया। उस दौर में पृथ्वी ब्रह्मांड के केन्द्र में नहीं है, इसको कहना या सोचना बड़ी खतरनाक बात थी। आज कोई ऐसा कहता है तो बड़ा सहज लगता है।

ये जो मानवीय ऐतिहासिक दृष्टिकोण है उसने हमारी सोच, संस्कृति, साहित्य पर बहुत गहरा प्रभाव डाला है। ऐसा नहीं कि अचानक हो गया होगा। इसके कुछ पुख्ता आधार रहे होंगे, नए विचारों के पैदा होने की प्रक्रिया रही होगी। हमारे देश में आर्यभट्ट ने इस तरह के विचार रखे लेकिन वो उतनी प्रखरता से नहीं कह पाए थे। ये प्रक्रिया क्या रही? 400 साल पहले नए विचारों का आना, बांध के टूट जाने जैसा था। वैचारिक तौर पर बाढ़ जैसी क्रांति आई।

वैज्ञानिक चिंतन का दृष्टिकोण हमारे शिक्षण में आ पाए, यह हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती है। सवाल ये है कि इतनी बड़ी चुनौती को अपने शिक्षण, पाठ्यक्रम से कैसे पूरा करें? आम धारणा है कि विज्ञान में सूत्र याद करना है, आगे चलकर मेडिकल, इंजीनियरिंग की पढ़ाई करना है। आपके भी मन में सवाल होगा– इसमें कुछ गड़बड़ है। इसमें कुछ और गहरी बात छुपी है, उसको पकड़ने की जरूरत है। उसको अपने शिक्षण में लाने की कोशिश करनी होगी। इतनी बड़ी–बडी अपेक्षाएं हैं शिक्षा से, उसको कैसे आगे बढ़ाएं? इसके लिए जरूरी होगा कि विज्ञान क्या है इसको समझना। क्या हमारी पाठ्यपुस्तकों में दी गई सामग्री ही विज्ञान है? क्या उसे बच्चे समझ कर सीख जाएं इससे विज्ञान आ जाएगा? क्या विज्ञान इतना भर है या इससे ज्यादा है? विज्ञान क्या इसलिए पढ़ाना है कि इंजीनियर और डाक्टर बन जाएं।

कीड़े कैसे लगते हैं, फसल कैसे बेहतर हो, जैसे सवालों को किसान अपने ढंग से हल करते हैं। लकड़ी का काम करने वाले बढ़ई, मिल मजदूर, गृहणी कितने ही लोग विज्ञान के सिद्धान्तों से जूझते हैं। दही जमाने के लिए कितने प्रयोग करने पड़ते हैं।

विज्ञान जहां आता है, गणित उसके साथ–साथ होता है। परिवेश से विज्ञान की पढ़ाई को जोड़ना जरूरी है। परिवेश से विज्ञान की पढ़ाई को जोड़ने की कोशिश हो भी रही है। एनसीएफ–2005 में भी इस पर काफी जोर दिया गया है।

किसी थीम को विज्ञान के अनुसार बताने के बजाए हमारे जीवन से उस थीम का किस तरह से जुड़ाव है, से शुरू करना चाहिए। साथ ही उसके वैज्ञानिक आधार क्या हैं इस पर चर्चा करनी होगी। कई बार लोगों को लगता है कि अरे, इसमें विज्ञान तो है ही

नहीं। थोड़ा और गहराई से देखें तो विज्ञान इसमें गहरे से जुड़ा है। विज्ञान क्या है? इसमें ये समझना जरूरी हो जाता है कि प्रयोग और अवलोकन ये दोनों चीजें विज्ञान के लिए बुनियादी जरूरत है। अपने शिक्षण में ऐसी गतिविधि कराना जिसमें प्रयोग और अवलोकन हो, इससे बच्चों में उत्साह पैदा होता ही है, साथ ही वे वैज्ञानिक चिंतन की ओर बढ़ते हैं। एक बीज, फूल के भाग, हैंड लैंस से चीजों को बड़ी करके देखना बच्चों के लिए बड़ा आकर्षक होता है।

बच्चों को प्रयोग और अवलोकन कराना शुरू करें, तो पाठ्यपुस्तक से प्रयोग आधारित विज्ञान शिक्षण की ओर बढ़ा जा सकेगा। हमारा मानना है कि शहरी स्कूलों से ग्रामीण स्कूलों में विज्ञान शिक्षण की ज्यादा संभावनाएं हैं। प्रयोग और अवलोकन विज्ञान शिक्षण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। यह टूल हमें बहुत जल्दी, इस पर ले आता है कि यह क्यों हो रहा है? यह सवाल के साथ ही विश्लेषण की ओर ले जाता है। कारणों की खोज तक जाते हैं और सिद्धांत को पकड़ पाते हैं। इसी से हम अवधारणा की कल्पना करते हैं और सिद्धांत को गढ़ पाते हैं। चीजों को ऊपर से नीचे गिरने के अवलोकन को आगे ले जाने पर नई अवधारणा बनी– गुरुत्वाकर्षण बल की अवधारणा।

बच्चों की सोचने की क्षमता के परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि बहुत जल्दी बच्चों में सोचने की क्षमता की प्रवृति स्कूल आने से पहले ही विकसित हो चुकी होती है। छूकर देखना, अवलोकन करना, तोड़कर देखना यह सब बच्चा कर रहा होता है। उल्टा होता ये है कि हम स्कूल में बच्चों को ये सब करने से रोकते हैं। जब हम बच्चों को कोई खिलौना देते हैं, तो बच्चा जानना चाहता है कि इसके अंदर क्या है। इसके लिए जरूरी है कि खिलौने को तोड़ा जाए। वह यही करता भी है, पर हम नाराज हो जाते हैं।

इन सब मानवीय प्रक्रियाओं को कैसे जोड़ा जाए विज्ञान शिक्षण में? इससे वैज्ञानिक चिंतन की बुनियाद बनती है। हमारी परंपरागत सोच है कि पाठ्यपुस्तक में जो है, उसको याद कर लेना है, यह विज्ञान शिक्षण के विपरीत जा रहा है। बच्चों को सवाल पूछने के लिए प्रेरित करना होगा। सवालों के उत्तर खोजने को प्रेरित करना होगा। हो सकता है कि जो उत्तर खोजा गया है, वह पाठ्यपुस्तक से मेल न खाता हो। हमारा उद्देश्य बच्चों में वैज्ञानिक चिंतन बढ़ाने का है, तो परीक्षाओं में भी इस तरीके के परिवर्तन करने होंगे।

आखिर विज्ञान है क्या? इस सवाल की गहराई हमारे लिए चुनौती खड़ी कर देती है।

विज्ञान वास्तव में ज्ञान की खोज करना है। निरंतर प्रकृति के बारे में, उसके हर पहलू के बारे में, खोज करने की ओर बढ़ना है। जब हमने सूक्ष्मदर्शी बनाया तो एक ऐसी दुनिया के दर्शन हुए जो आंखों से नहीं दिखती थी। इस खोज से जो सिद्धांत निकले, उसका हमारे जीवन पर बड़ा असर पड़ा है। ये जो ज्ञान की खोज है, इस दृष्टि से देखें तो विज्ञान ज्ञान के निर्माण का एक साधन है। हम सबने ये विकसित किया है कि हम क्या मानें। कब मानें कि ये सत्य है और इसके बारे में और जानने की जरूरत है। इससे एक नया आयाम खुल जाता है। हम कैसे मानें की पृथ्वी सूर्य के चक्कर काटती है? सूर्य पूर्व से पश्चिम की ओर घूमता है। बाल मन तो इसी प्रकार के सवाल करेगा। इसके कई जवाब दिए जा सकते हैं। पर सवाल ये है कि कौन सा जवाब सही है? किस आधार पर कह रहे हैं? क्या इन सबके बाद भी ये अंतिम सत्य है? एक ओर हम मानते हैं कि वैज्ञानिक मानसिकता या वैज्ञानिक चिंतन का आधार है– किसी भी कथन को सत्य

का दर्जा हम कब दें। कब कह सकते हैं कि ये अटल सत्य है। विज्ञान ये बताता है कि हम निरंतर सत्य की ओर बढ़ सकते हैं। लेकिन कोई भी खोज अंतिम सत्य है, ऐसा विज्ञान नहीं कहता है।

इसके बारे में वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई भी बात वैज्ञानिक तभी कही जा सकती है जब हमारे पास उसको झूठा कैसे साबित किया जाए इसकी भी गुंजाइश हो।

ये संभावना बनी रहनी चाहिए। ताकि हर पीढ़ी जब इसको जांचे तो उसको कुछ नया मिले। न्यूटन ने हमको सिद्धांत बताए थे। पिछले 100 वर्षों में न्यूटन भौतिकी अपनी जगह सही है। पर इसके साथ–साथ क्वांटम भौतिकी को गढ़ा जा रहा है।

हर उस बात पर संदेह करना है जो बात अतीत से बह कर हम तक पहुंची है। एक अनुभूत 'सत्य' का जामा पहने, और फिर ठेठ शुरुआत से अपने ही अनुभव के बूते उस 'सत्य' को परखना। बजाए इसके कि पहले के अनुभव पर ज्यों का त्यों विश्वास कर लिया जाए, यही विज्ञान है।

संदर्भ सेवी के वक्तव्य के बाद इस विषय पर खुले सत्र में सवाल–जवाब किए गए। चर्चा के अंत में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के जिला प्रमुख जगमोहन चोपता ने संभागियों को धन्यवाद ज्ञापित किया।

जगमोहन चोपता : अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, उत्तरकाशी में कार्यरत हैं।

करो और सीखो

मोहनलाल जाट

वर्तमान शिक्षा पुस्तकीय ज्ञान पर आधारित है। यह ऐसी शिक्षा है जो बालकों को जीवन की वास्तविक परिस्थितियों से दूर ले जा रही है। छात्रों को राष्ट्र के आर्थिक विकास और सामाजिक उन्नति में सहयोगी बनाने वाली नहीं है। इसलिए शिक्षा में बदलाव लाने की आवश्यकता महसूस की जा रही है। ऐसी शिक्षा व्यवस्था करनी होगी जो बालक के बौद्धिक विकास करने के साथ ही उसमें ऐसी क्षमताएं लाए, जो उसे आत्मविश्वास एवं आत्मनिर्भरता के साथ जीवन जीने के योग्य बना सके। शिक्षकों से यह अपेक्षा है कि वे कक्षा, स्कूल और खेल के मैदान में ऐसा वातावरण तैयार कर पाएं, जिससे बालक का स्वस्थ सामाजिक विकास हो सके। इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए विद्या भवन कला संस्थान (बी.एस.टी.सी.) उदयपुर ने ''करो और सीखो'' कार्यशाला का आयोजन किया। इसमें 20 छात्राध्यापकों ने भाग लिया।

कार्यशाला के पीछे सोच यह थी कि शिक्षक को शिक्षार्थी पर किसी भी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं करनी चाहिए। बालक स्वयं अपनी समस्या को सुलझाए। उन्हें केवल उसका मार्गदर्शन करना है। इस कार्यशाला के माध्यम से छात्राध्यापकों (भावी शिक्षकों) में स्वानुशासन, बालकेंद्रित शिक्षण सामग्री व गतिविधि निर्माण, विद्यालय प्रबन्धन, आत्मनिर्भरता, सहयोग, स्वावलंबन एवं परिश्रम आदि कौशलों के प्रति एक समझ बनाने की कोशिश की गई। हालांकि इस कार्यशाला के माध्यम से वे कितना सीख पाए, यह तो उनके कार्यक्षेत्र में जाने पर ही पता चल पाएगा।

कार्यशाला की शुरुआत एक खेल से की गई। बालक के सामाजिक विकास में खेलों का विशेष महत्त्व है। इसलिए छात्राध्यापकों के लिए एक ऐसे खेल का आयोजन किया गया, जिसमें वे ईमानदारी व स्वानुशासन का परिचय दे सकें। इस खेल को रखने के पीछे उद्देश्य यह था कि छात्राध्यापक स्वयं निर्णय लेने में सक्षम हों और स्वानुशासन को समझ सकें तथा खेल की भावना के साथ एक दूसरे का सम्मान भी करें। इस खेल का नाम रखा गया 'राम–रावण'। खेल प्रारंभ करने से पूर्व खेल के नियम बता दिए गए। इस खेल में रावण समूह की जीत

हुई। जब दोनों समूहों ने हार जीत के कारणों का विश्लेषण किया, तो सारांश यह निकला कि नाम से कुछ नहीं होता। जीत उसकी होती है, जो ईमानदारी और अनुशासन से खेलता है। इस खेल में जानबूझ कर नियम अधिक रखे गए ताकि नियम तोड़ने वाले समूह के अंक काट दिए जाएं। खेल के अंक ईमानदारी और स्वानुशासन को दर्शाते हैं। नियम बताने के बावजूद 'राम समूह' ने सबसे अधिक नियम तोड़े थे, इससे उसकी हार हुई। राम समूह ने भी माना कि खेल में एक को हारना तय है और हार से भी सीख मिल सकती है। समझ यह बनी कि हम अध्यापक बनने जा रहे हैं, तो हमें विद्यालय में ऐसे खेलों का आयोजन करना चाहिए।

कार्यशाला के अगले क्रम में एक अन्य गतिविधि रखी गई, जिसमें छात्राध्यापकों को एक गोले में खड़ा किया और उनसे कहा गया कि एक आदर्श अध्यापक में क्या–क्या गुण होने चाहिएं? इस पर चिंतन करें। इस चिंतन में सभी छात्राध्यापकों ने एक–एक विशेषता बताई। इस प्रकार चर्चा में लगभग बीस ऐसी विशेषताएं निकलकर आईं। हर अध्यापक में कुछ विशेषता या गुण तो होने चाहिएं। वैसे तो, शिक्षक प्रशिक्षण पाठ्यक्रम में नैतिक शिक्षा विषय भी शामिल है लेकिन विद्यालय में उसे सैद्धांतिक रूप में पढ़ा कर केवल औपचारिकता पूरी की जाती है। आदर्श अध्यापक के बाद एक आदर्श विद्यालय कैसा हो? इस परिकल्पना पर आधारित गतिविधियां की गई।

विद्यालय की परिकल्पना के आधार पर छात्राध्यापकों से एक ऐसा कक्षा–कक्ष निर्माण करने को कहा गया, जिसमें 10 से 20 विद्यार्थी बैठ सकें तथा जहां बालकेंद्रित शिक्षण सामग्री हो। यह विद्यालय, पास के बरगद के पेड़ के नीचे बनाने को कहा गया। जिसकी न तो दीवार और न ही सामान्य सुविधाएं थीं। आस–पास की साफ–सफाई भी नहीं थी। साथ ही विद्यालय में कक्षा–कक्ष व शिक्षण सामग्री निर्माण पर गतिविधियां कराई गईं। सभी को एक पंक्ति में खड़ा किया और दो समूह बनाए गए। दोनों समूहों को किट दिए, जिसमें तीन दिन की कार्यशाला से संबंधित सामग्री थी। किट के साथ सामग्री की सूची भी दी। दोनों समूहों ने दो झाड़ू व दो–दो फोटो फ्रेम बना लिए और कक्षा–कक्ष की साफ–सफाई भी कर ली। दोनों गतिविधियां एक साथ इसलिए दी गई ताकि समूह में कार्य का विभाजन या प्रबंधन समझ सके तथा एक दूसरे में सहयोग करने की भावना का विकास हो सके।

शिक्षक पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूक हो एवं प्रकृति प्रेमी भी, इसलिए एक गतिविधि और करवाई गई। दोनों समूहों में पक्षियों के लिए परिंडे बनाने व बांधने पर स्पर्धा रखी गई। इसमें भी रावण समूह प्रथम आया। यहां एक समूह को दूसरे समूह का अवलोकन करने को कहा गया। यह फीडबैक आया

कि जिस समूह ने जल्दबाजी में परिंडा बनाया उसका परिंडा मजबूत नहीं बना है। हम चाहते थे कि यह भावना शिक्षक से विद्यार्थी में हस्तांतरित हो जाए और विद्यार्थी में पर्यावरण संरक्षण के प्रति सजगता बढ़े।

दूसरे दिन, छात्राध्यापकों में आत्मविश्वास, सहयोग की भावना के लिए जंगल पर गतिविधि करवाई। जंगल के दृश्य के लिए परिसर के विशाल बरगद के इर्द–गिर्द एक दृश्य बनाया। पहले दो समूह बनाए और दोनों समूह में से एक–एक छात्र को छोड़कर बाकि सभी की आंखें बंद रखकर चलने को कहा गया। उन्हें निर्देश दिए गए कि जंगल में किसी भी प्रकार का शोर नहीं होना चाहिए। समूह में से जो देख कर चल रहा है, उसे अपने पीछे चल रहे साथी को कान में बताना है। दोनों समूहों को अलग–अलग दिशा में भेजा गया। जो देख कर चल रहा है, वह अपने साथी को संकट से अवगत करा रहा है कि आगे विकट मोड़ है, काटें हैं, यहां गुफा है, खड्ड़ा, पत्थर है आदि। सभी छात्राध्यापक बहुत ही धीरे–धीरे कदम रख कर चल रहे थे। उनके अनुभव इस प्रकार थे–

हम एक दूसरे का हाथ पकड़े डरे हुए से इस तरह चल रहे थे, जैसे वास्तव में घने जंगल में चल रहे हों। हमें डर लग रहा था कि कहीं पैरों के नीचे बिच्छू या सांप न आ जाए। हमारे समूह लीडर ने हर संकट से बचाया। वह हमें पूर्व ही सावधान कर देता था कि आगे किस प्रकार की विपदा है। इससे हमारा समूह लीडर पर विश्वास बढ़ा।

जंगल पर गतिविधि करवाने के बाद बालकेंद्रित गतिविधियां करवाईं। दोनों समूहों से लकड़ी व कागज से खिलौना बनाने को कहा गया। कागज व लकड़ी का खिलौना क्या हो? यह उन पर छोड़ा गया। दोनों समूहों ने अलग अलग प्रकार के खिलौने बनाए। एक लकड़ी से किसी जानवर की आकृति बनाई एवं कागज से नाव, हवा से चलने वाला पंखा व सांप की आकृति बनाई। इस गतिविधि के साथ ही दोनों समूहों को एक–एक बाल–पत्रिका बनाने को कहा गया। इसके लिए 30 मिनिट का समय दिया। बाल–पत्रिका बनाने के लिए हस्त लेखन व अखबार की कतरनों का प्रयोग किया।

बाल–पत्रिका में कार्टून, कविता, खेल, बच्चों के फोटो, अनमोल वचन, सुविचार, पक्षियों के फोटो, फूलों व बेलबूटों से संबंधित सामग्री तैयार की। इस गतिविधि से बाल–पत्रिका निर्माण का कौशल सिखा पाने में मदद मिली।

अगली गतिविधि वेस्ट से बैस्ट बनाने पर आधारित थी। दोनों समूह को सामग्री देकर पैन व ऑलपिन स्टैंड बनाने को कहा गया। कार्य छोटा हो या बड़ा उसके पीछे जो भावना व लगन है, वह महत्त्वपूर्ण

है। कई बार विद्यालय में शिक्षकों के पास खाली समय होने के बावजूद वे ऑफिस व कक्षाओं में पड़ी अव्यवस्थित चीजों को व्यवस्थित करने का समय नहीं निकाल पाते हैं। गतिविधि को कराने के पीछे मूल उद्देश्य यह था कि हर अध्यापक अपने विद्यालय को व्यवस्थित रखे और उपयोगी चीजें बना पाए।

अंतिम दिन, शेर व बकरी, पकड़ा–पाटी की गतिविधि के बाद ''हमारा विद्यालय कैसा हो?'' इस पर चर्चा की गई। कक्षा–कक्ष में अतिआवश्यक सामग्री क्या होनी चाहिए? उसकी सूची बनाने को कहा। सभी ने सूची बनाई। इनमें से कुछ सामग्री का निर्माण तो पिछले दिन करवा दिया गया था। कुछ सामग्री पर काम शुरू किया गया।

एक समूह ने सूचना पट्ट बनाने पर कार्य प्रारंभ किया। इसके लिए उन्हें कैनवास (कपड़ा) व सूई–धागा दिया गया। तुरपाई करके अलग–अलग रंग की शीट से सूचना को चिपकाकर तैयार किया। सूचना पट्ट पर सभी सदस्यों के नाम व कार्य विभाजन, समय सारणी को दर्शाया गया था।

दूसरे समूह ने टेबल कवर की सोची। इसके लिए उन्हें बंधेज का कवर बनाने के लिए पक्का रंग व गर्म पानी दिया गया। समूह ने अपने अनुसार डिजाईन में धागों से बांध कर पक्के रंग में भिगोकर सुखाने के लिए छोड़ दिया। समूह के अन्य सदस्यों ने अपने बॉक्स के जंग को घिस कर उस पर पेंट किया। दोनों समूहों ने चार–चार श्यामपट्ट के लिए गत्ते पर काली शीट को तैयार किया और चॉक से एक पाठ योजना पर लेखन कार्य भी कर दिया। कक्षा में कोटेशन, शिक्षाप्रद नारे शीट पर लिखे गए। दोनों समूहों को 45 मिनिट का समय देकर अपने कार्य की प्रदर्शनी लगाने को कहा गया। विद्यालय के नाम का बोर्ड और अपने विद्यालय की बाउंड्री धागे से बांध कर तैयार की गई। कक्षा के अंदर अखबार की फरियों व बच्चों से संबंधित क्राफ्ट की सामग्री से सजाया गया। इस प्रकार बनी अस्थाई कक्षा सुंदर व आकर्षक लग रही थी।

कार्यशाला की समाप्ति पर सभी ने अपने अनुभव सुनाए। निष्कर्ष निकला कि बच्चों को सिखाने के लिए पहले स्वयं तैयारी करें एवं ज्ञान किसी भी प्रकार का हो, यदि गतिविधि के माध्यम से देंगे तो बच्चों में वह स्थाई रहेगा एवं उन्हें आनंददायक तथा रुचिकर लगेगा। कक्षा में पढ़ने व पढ़ाने का वातावरण नीरस नहीं होगा और सिखाने व सीखने में मदद मिलेगी।

मोहन लाल जाट : विद्या भवन कला संस्थान, उदयपुर में कला शिक्षा पढ़ाते हैं।

बच्चे में प्रकृति की अवधारणा

इंदिरा जयसिम्हा

'विप्रो एप्लाइंग थॉट इन स्कूल्स' सामाजिक परिवर्तन व विकास की दिशा में एक प्रयास है। यह एक दूरगामी, सोचा–समझा और केंद्रित प्रयास है। इसकी मंशा, शिक्षा की गुणवत्ता को बेहतर बनाने की है ताकि समाज के दुर्बल लोगों समेत सबके लिए जीवन के अवसरों और संभावनाओं का विस्तार हो। इसका एक प्राथमिक उद्देश्य शिक्षा के सुधार पर काम करने वाली सामाजिक संस्थाओं का एक समुदाय बनाना है। इसमें शामिल है– देश में व्याप्त अच्छी शिक्षा की परिभाषा का परीक्षण करना, विभिन्न संस्थाओं के परिप्रेक्ष्य और उनके संदर्भों को शिक्षा के क्षेत्र में लाना और अच्छी शिक्षा के विचार के लिए सरकारी, निजी, ग्रामीण, शहरी सभी संदर्भों में उसके निहितार्थ को खोजना। इसका 'विप्रो पार्टनर्स फोरम' एक मंच के रूप में उभरा है, जो विभिन्न सामाजिक संस्थाओं को शिक्षा पर अपने विचार साझा करने व उनके बीच एक संवाद स्थापित करने का अवसर उपलब्ध कराता है। इसका संवाद संस्थाओं को शिक्षा के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझने और इससे अपने काम को आगे बढ़ाने में मदद करता है। 16–18 सितंबर 2009 को बैंगलूरू में आयोजित दसवें विप्रो पार्टनर्स फोरम के संवाद में 'पारिस्थितिकी एवं शिक्षा' पर विमर्श किया गया था। इस संवाद में वैकल्पिक स्कूल – पूर्णा स्कूल (बैंगलूरू) की संस्थापक सदस्या ने अपने स्वयं के बचपन के अनुभवों के साथ ही उनके शिक्षक साथियों के बच्चों को पर्यावरण व प्रकृति के बारे में पढ़ाने के अनुभवों को इस आलेख में अभिव्यक्त किया है।

बच्चा और प्रकृति

शुरुआत में, मैं बच्चे और उनकी प्रकृति की अवधारणा को मेरे अपने बचपन के निजी विवरण के जरिए व्यक्त करूंगी। मेरी परवरिश झारखंड में हुई, एक कोयला खदान क्षेत्र के नजदीक। मेरे पिता एक रसायन संयंत्र में काम करते थे और इसलिए एसिड जयराम के नाम से मशहूर थे। बचपन के लिहाज से वह बहुत सुंदर जगह थी। स्कूल में हमारे यहां पहाड़ों पर क्रास कंट्री दौड़ हुआ करती थी, तीन जलधाराएं थीं जहां हम जाया करते थे, और एक बड़ा सा धंसा हुआ स्थान था जहां खेलकूद की गतिविधियां होती थी, पृष्ठभूमि में चारों और छोटा नागपुर का पठार था। सुबह–सुबह, मैं अपने लॉन में जाकर खूबसूरत पहाड़ियों के पीछे से सूर्योदय देख सकती थीं। मगर उन्हीं पहाड़ियों पर बोकारो थर्मल पॉवर स्टेशन के धुएं की चिमनियां थीं। मेरा स्कूल वहीं था, घर से करीब 16 मील दूर। हम संथाल लोगों को खदान पर काम करके घर लौटते देखते थे, एकदम काले हो चुके, मगर हाथों में हाथ डाले लड़के–लड़कियां, आदमी–औरत, सब सड़कों पर गाते हुए। फिर जब हम पाठ्यपुस्तकें पढ़ते, उस समय हरित क्रांति बड़ी चीज थी। तो हम कहा करते थे, ' ये किसान कभी रसायनों का इस्तेमाल करना नहीं सीखेंगे। ये लोग यूरिया डालकर कितनी ज्यादा उपज ले सकते हैं।' उस समय हम ऐसी ही बातें करते थे।

जिस कारखाने में मेरे पिता काम करते थे, वहां नाइट्रस ऑक्साइड संयंत्र आसमान में नारंगी धुंआ पैदा करता था जो हम देख सकते थे, और उसके आसपास के सारे पेड़ मर गए थे। वे नाइट्रेटिंग

संयंत्र में काम करते थे जहां मोनो नाइट्रो टॉलुइन बनाई जाती थी। हम आमतौर पर पिकनिक के लिए कोनार नदी पर जाया करते थे जहां बोकारों घायी का पहला बांध बनाया गया था। वहां बांध आज भी चालू हालत में है। यह बांध सिर्फ वर्षापोषित क्षेत्र के प्रबंधन के लिए बनाया गया था, यह बिजली पैदा भी नहीं करता था। पानी की गंध सूंघकर हम अपने पिता से कहा करते थे कि उनका कारखाना ही यह बदबू पैदा करता है, मगर वे इसके बारे में कुछ नहीं कहते थे और उनके नियोक्ता के प्रति वफादार बने रहना पसंद करते थे। यह हमारे बचपन के अनुभव का एक हिस्सा था।

दूसरी ओर, मेरी मां ने 1960 के दशक में रेचल कार्लसन को पढ़ा था और उनसे प्रेरित होकर वे कहती थीं, 'हमारे बगीचे में हम आलू, भिंडी, बरे वगैरह पर डीडीटी नहीं डालेंगे।' तो मुझे भी डीडीटी के हानिकारक असर का पता था। मैंने पिताजी से झगड़ा किया और हमारी सब्जियों वाली क्यारी में डीडीटी की मनाही की थी। मगर हम यूरिया का उपयोग करते थे। मैंने खुद पत्ता गोभी के पौधों के आसपास यूरिया डाला था। आज मैं जैविक हूं, तो यह टिकाऊ जीवन शैली की ओर एक लंबी यात्रा रही है।

कई अन्य बातों ने भी मुझे प्रभावित किया है। जैसे, जब मैं काफी छोटी थी और नई–नई मां बनी थी, उस समय भोपाल गैस कांड हुआ था। मैं बहुत परेशान हुई थी और आज तक भी परिवार का कोई व्यक्ति यूनियन कार्बाइड द्वारा निर्मित एवरेडी बैटरी नहीं खरीदता। मैं कहना चाहती हूं कि पर्यावरण के बारे में जागरूकता उस जगह का हिस्सा थी, जहां हम पले–बढ़े। कई वर्षों बाद एक पालक के नाते मेरी चिंता थी, 'जब मेरे बच्चे बड़े होंगे, तब पर्यावरण कैसा होगा?' मैंने देखा है कि जिन बीस वर्षों में हम गोमिया में थे, पहाड़ नंगे होते गए थे, और साल के घने जंगल गायब होते गए थे। वहां एक अद्भुत पहाड़ी थी जिस पर उन्होंने एक आम वानिकी प्रजाति एकेसिया ऑरिक्यूलोफॉर्मिस का जंगल लगाया था। मगर विचित्र बात यह थी कि पहले उन्होंने वहां पहले से मौजूद पेड़ों को काट दिए और फिर वनीकरण के नाम पर ये पेड़ कतारों में लगाए। उस समय हम हजारीबाग के नजदीक रहते थे, जहां हजारों बाघों का निवास था, आज वहां बाघों की संख्या सिफर है। मगर कारखाने के मैंगनीज क्षेत्र में जहां मेरे पिताजी काम करते थे, जहां विस्फोटक रखे जाते थे, वहां एक रॉयल बंगाल टाइगर मारा गया था और उसे घर–घर ले जाया गया था। आज बमुश्किल वहां कोई बाघ बचा हो। शायद, बेटला राष्ट्रीय उद्यान में कुछ बचे हों। मगर जब हम बच्चे थे, तब बाघ थे, हमारे बगीचे में भी उनके पदचिह्न देखें हैं। तो उस समय जो पर्यावरण था, वह काफी बदल चुका है।

हम बच्चे और उसके पर्यावरण पर लौटते हैं। हम शिक्षकों का सरोकार यह होता है कि पर्यावरण बच्चे का क्या करता है, और बच्चा पर्यावरण से कैसे जुड़ता है। यह धारणा राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचा 2005 में भी झलकती है। झुग्गी बस्ती में रहने वाला कोई बच्चा भी उसी पर्यावरण से सीखता है। हम इस सीखने को ज्ञान कहें या नहीं, इसे हम कक्षा में लाएं या नहीं, हम इसका अर्थ बनने दें या नहीं, हम कक्षा में अपने शिक्षण के जरिए सोच समझकर बच्चे को प्रतिरोध करने दें या नहीं या उसका हिस्सा होने दें या नहीं– ये प्रश्न हैं, जो हमें शिक्षा के संदर्भ में पूछने होंगे।

पूर्णा के स्कूल में हमने कक्षा की उस प्रचलित धारणा पर सवाल उठाया, जो बच्चे और उसके निकट के पर्यावरण के बीच की कड़ियों को काट देती है। हो सकता है कि बच्चा शारीरिक रूप से कक्षा में उपस्थित है, पाठ्यपुस्तक पढ़ रहा है, मगर अपने आसपास की किसी चीज से जुड़ नहीं रहा है। गोमिया के स्कूल में मेरा यही हाल होता था। सारा मजा तो हमें तब नसीब होता था, जब

घंटी बज जाती थी। पिताजी हमें रसायन कारखाने में ले जाते थे, जहां हम वह देखते थे जो अपनी पाठ्यपुस्तकों में पढ़ते थे– उत्प्रेरक संयंत्र। मगर किसी आम कक्षा में ऐसे व्यावहारिक अनुभव की जरूरत नहीं मानी जाती थी।

सवाल यह है, – कक्षा के अपने अनुभव को बाहर की दुनिया से जोड़ने का मतलब क्या है? मुझे याद है, एक कक्षा जहां मैं पढ़ रही थी, जिसे बच्चों ने अंततः नाम दिया था 'फ्लाइज, फ्लीज एंड फ्लूज' जहां हम स्कूल के बाहर कोडोगेहल्ली मेनरोड पर घूमते थे, वहां लोग थूक रहे थे, कुछ लोग नंगे पैर चल रहे थे, और कुछ लोग टट्टी कर रहे थे। वहां बच्चों ने सीखा कि जन स्वास्थ्य का मतलब क्या है। उन्होंने यह सब कुछ गगनचुंबी बहुमंजिली इमारतों के बीच देखा था। इससे उन्हें सोचने का मसाला मिला, पर्यावरण के जैविक और सामाजिक अंगों के बारे में सोचने का। हमें खुद से यह सवाल पूछना होगा कि जब बच्चा कक्षा में इतिहास या विज्ञान जैसे विषय सीख रहा हो, तब बच्चे के पर्यावरण और मेरा मतलब है सामाजिक, सांस्कृतिक या प्राकृतिक पर्यावरण के कितने हिस्से पर उससे चिंतन करने को कहा जा सकता है। इसके अलावा, मुझे लगता है कि विज्ञान और वैज्ञानिक जैसी धारणाएं सामाजिक से बाहर नहीं हैं। मेरे ख्याल में 'वैज्ञानिक' को 'सामाजिक' के दायरे के अंतर्गत ही समझा जाना चाहिए। विज्ञान में परमाणु संरचना पढ़ाते हुए आप नागासाकी को अलग नहीं रख सकते। परमाणु ऊर्जा के बारे में पढ़ाते

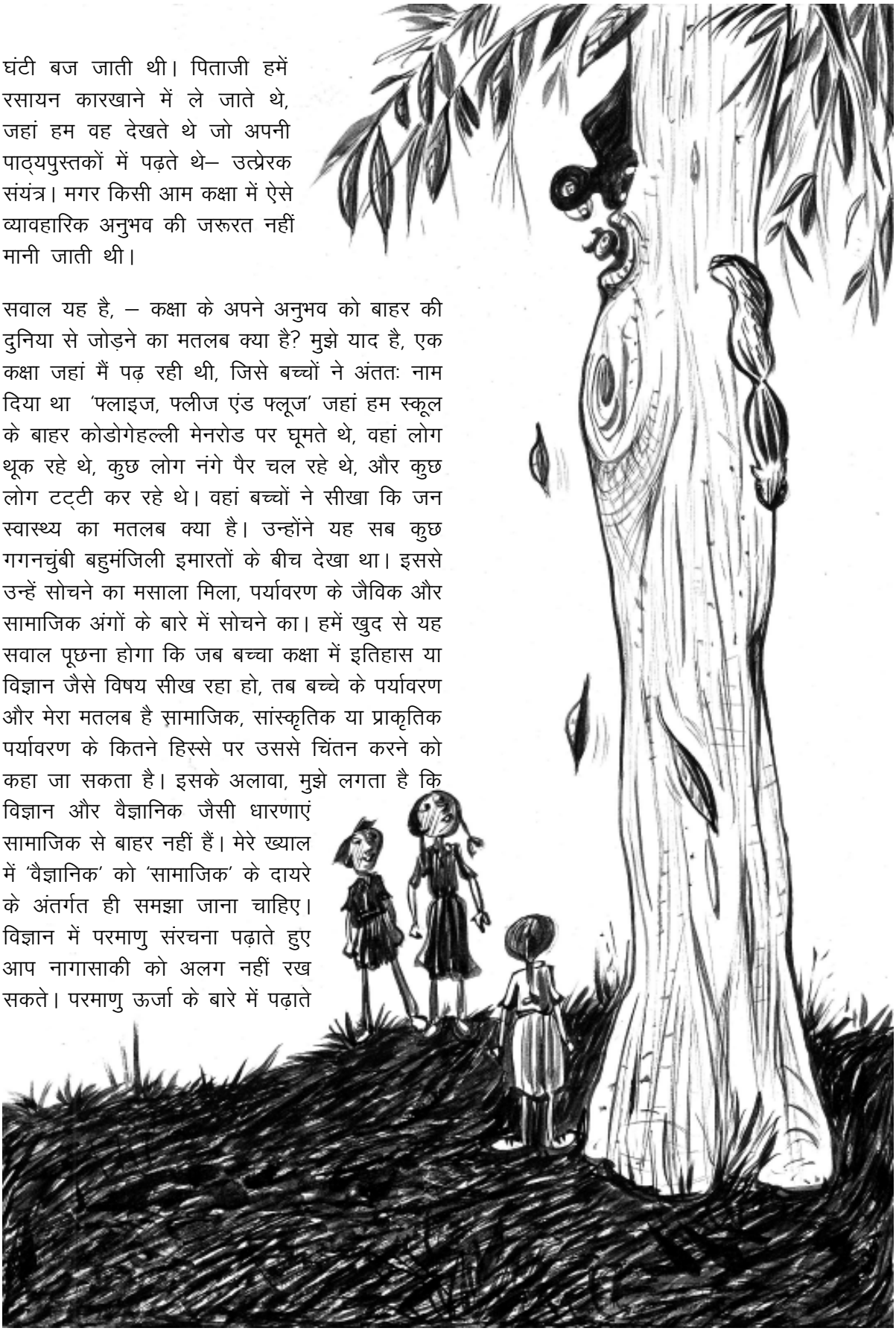

हुए आप जादूगोड़ा में खनन को या उत्तर–पूर्व में खनन के संबंध में चल रहे आंदोलनों को अलग नहीं रख सकते। आप बॉक्साइट से एल्युमिनियम निष्कर्षण की बात और स्ट्रिप माइनिंग की चर्चा को अलग–अलग नहीं कर सकते। नीलगिरि पहाड़ी में मेरी एक बहन रहती है, आदिवासियों के साथ काम करती है, और वह इसे निश्चित रूप से जीवन का मुद्दा मानती है। उसे पूर्णा में बुलाया था, बच्चों को यह बताने के लिए कि वहां क्या हो रहा है। उसने वहां जो कुछ होता है और शहरों में बहुत लोकप्रिय कोका कोला के एल्युमिनियम के डिब्बों के बीच संबंध जोड़ने में मदद की थी। वे पेचीदा कड़ियां हैं। वहां किसी ने सवाल पूछा था कि हमारा काम इन चीजों को सरल बनाना है? बात एकदम उल्टी है, हमारा काम सरलीकरण नहीं बल्कि इन सारी जटिलताओं के बारे में बताना है। हमें यह समझना होगा कि बच्चे प्रकृति और पर्यावरण के बारे में काफी पेचीदा ढंग से सोच सकते हैं और उन्हें पर्यावरण को बेहतर समझने में मदद करनी होगी।

किसी ने यहां पक्षी दर्शन की बात की थी। मुझे लगता है कि यह अच्छी बात है कि बच्चे शहरों में आज भी पक्षी देख सकते हैं। पूर्णा में बच्चों को स्कूल के समय यहां–वहां घूमने की छूट है। एक बार एक छोटा बच्चा मेरी सीनियर कक्षा में आ गया, जहां थोड़ा व्यवधान हुआ था क्योंकि बाहर की कक्षा के नजदीक ही बुशचैट नामक की एक चिड़िया थी। यह बच्चा बहुत जिज्ञासु था और घर जाकर उसने अपनी मां को बताया, 'इंदिरा ने मुझे एक बुशचैटर दिखाई।' और उसकी मां को यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि ऐसी किसी चिड़िया का वजूद भी है। पांच वर्ष में वह बच्चा किसी भी पक्षी को उसके उड़ने के ढंग से पहचान सकता था। मैं फिर पूछती हूं, शिक्षकों के नाते हम बच्चे को कितने पर्यावरण के संपर्क में लाएं, कितना पर्यावरण बच्चे तक लाएं?

यहां मैं टैगोर की प्रेरक कहानी 'तोते की शिक्षा' का जिक्र करना चाहूंगी। इसमें वे इस धारणा पर सवाल उठाते हैं कि क्या शिक्षा के लिए हमें ढांचे बनाना चाहिए। कहानी में महाराजा तोते को शिक्षित करना चाहते, जो महाराजा के मुताबिक मूर्ख है, फूहड़ है और उसे 'तमीज नहीं है'। यह शैक्षिक ढांचे को सोने का पिंजड़ा कहता है। तो शैक्षिक ढांचे निर्मित करना चाहते हैं। जब हम शिक्षा के लिए ढांचा बनाते हैं, तो हमारा आशय क्या होता है? और ये ढांचे क्या हों? ये निहित सवाल हैं जिसके बारे में हमें विचार करना चाहिए।

मुझे एक चिंता यह भी है कि जब हम 'यूईई मिशन' चालू करेंगे तो साथ ही ढांचे भी खड़े करेंगे। हम यह निर्धारित करने की कोशिश कर रहे हैं कि किस तरह के ढांचे होने चाहिएं। क्या हम ऐसा कर सकते हैं? क्या कोई एक ढांचा है जो हर परिस्थिति में फिट हो जाएगा? हम वे कौन से अलग–अलग ढांचे सोच सकते हैं जो अलग–अलग परिवेशों में बच्चों को अपने पर्यावरण के बारे में सीखने में मददगार होंगे? इन सबको बच्चे और प्रकृति के बारे में कई बातों को जोड़कर देखा जा सकता है।

एक और मुद्दा उठाया जा सकता है कि बच्चे के लिए उसके पर्यावरण में क्या प्राकृतिक है। एक मां के नाते या एक शिक्षक के नाते क्या हमारी भूमिका प्राकृतिक है? क्या बात एक अकेले बच्चे की है जो अलग–थलग कुछ सीख रहा है? नहीं, बिल्कुल नहीं। इंसान का बच्चा एक मानव समाज का अंग होता है, मानव संस्कृति का अंग होता है। प्रकृति बनाम संस्कृति का एक विरोधाभास भी है। बच्चे को एक प्राकृतिक परिवेश में बढ़ने देने के विचार थोड़े रूमानियत से भरे भी हो सकते हैं। हो सकता है कि हम पूरी तरह भूल जाएं कि बच्चे के लिए

आसपास वयस्कों का होना, वयस्कों से सीखना, या तमाम अलग–अलग विधियों से सीखना सर्वथा प्राकृतिक है। यह कहना पियाजे की एक सरलीकृत समझ दर्शाता है कि अपने पर्यावरण को टटोलता बच्चा एक तन्हा वैज्ञानिक है। जहां वायगोत्स्की सायास सीखने की बात करते हैं, कि सीखना संस्कृति के माध्यम से होता है, कि बच्चा जो कुछ सीखता है, दुनिया का जो भी अर्थ निकालता है, वह उसके संबंधों के माध्यम से होता है, और इसमें उसके भौतिक संबंध भी मध्यस्थता करते हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वायगोत्स्की रूस के एक मार्क्सियन थे और इसलिए उन्होंने भौतिक मध्यस्थता की बात की थी। क्या प्राकृतिक विकास जैसी कोई चीज है भी? कुछ मनोवैज्ञानिक हमें समझाएंगे कि 'प्राकृतिक विकास' जैसी कोई चीज सचमुच होती है मगर सांस्कृतिक मानवशास्त्री और समाजशास्त्री इससे सहमत न होंगे। यहां तक कि इस धारणा पर भी सवाल उठाए जा सकते हैं कि बचपन को कैसे समझा जाए।

पूर्णा में ऐसे सवाल बहुत आम हो गए थे, जिन्हें रोज व्यावहारिक परिस्थिति में संभालना होता है। शिक्षक क्या करे? शिक्षक कब हस्तक्षेप करे? एक पर्यावरण तैयार करने का क्या अर्थ होता है? सोचने का एक हिस्सा यह भी है कि हमारे यहां कुछ लोगों का एक समूह था जो इसी धारणा पर आगे बढ़ने की कोशिश कर रहा था कि एक बच्चे के लिए प्राकृतिक रूप में विकास का क्या अर्थ है। शिक्षकों के नाते हमारी क्या जिम्मेदारी है? हम एक ऐसा पर्यावरण कैसे तैयार करें जो एक किस्म के सोच को सुविधाजनक बनाए या उसे बढ़ावा दे? टाइम टेबल क्या होना चाहिए? क्या आप उन्हें एक कक्षा का संचालन करने देंगे? हमने टाइम टेबल के साथ कई प्रयोग किए हैं– किसी ने टाइम टेबल बनाने पर हां कहा और फिर कुछ दिनों तक उसका पालन किया, अन्य लोगों ने कहा कि यदि बच्चे अंदर नहीं आते हैं, तो शिक्षक उनसे पूछ सकता है कि वे कक्षा में क्यों नहीं आए। बच्चों के एक समूह ने कहा कि टाइम टेबल नहीं होना चाहिए, और उन्हें लगता है कि वे जब चाहेंगे तब आएंगे और जब नहीं चाहेंगे तब नहीं आएंगे। बच्चों का एक समूह और था जो दो महीनों तक आया ही नहीं। तो अब क्या करें? तब हमें पालकों के सवालों का समाना करना पड़ा। बच्चे खुद नहीं जानते कि उन्होंने कुछ चीजें क्यों नहीं सीखीं या पढ़ीं, जबकि वे चीजें कक्षा में आने वाले बच्चे पढ़ चुके थे। हमने 'तोत्तो चान व्यवस्था' भी आजमाई जो कुछ बच्चों के लिए काम कर गई। पूरी कक्षा ने तोत्तो चान पढ़ी और बच्चों से पूछा कि क्या हमारे स्कूल में वैसी व्यवस्था हो सकती है, और हमने आजमाया। विचार यह था कि शिक्षिका हरेक के काम बोर्ड पर लिख देंगी और वे तय करेंगे कि कब आकर उसे पूरा करें। और एक बार काम खत्म करने के बाद, बाकी समय वे बाहर खेलने जा सकते थे। इस बात पर सहमति बनी मगर वास्तव में जो हुआ वह यह था, जो बच्चे शैक्षणिक काम के प्रति रुझान रखते थे वे पहले आते, काम खत्म करते और खेलने चले जाते। शेष बच्चे तीन बजे तक खेलते रहते। वे करीब साढ़े तीन बजे आते और उम्मीद करते कि वे छः के छः विषय निपटा लेंगे। लेकिन वे नहीं कर पाते थे। वे और पिछड़ते जाते। अंततः वे फंस जाते और शिक्षक के नाते आप फंस जाते। उस प्रयोग में एक बात यह हुई। एक और चीज जो हमने की, वह थी कि हमने बच्चों को एक प्रस्ताव दिया, कि वे जब क्रिकेट या कोई भी सामूहिक खेल खेलना चाहें, तो उन्हें एक सुगठित समूह के रूप में खेलना होगा। तो बच्चे साथ मिलकर कोई मैच पूरा करके साथ काम करने का फैसला करते। वास्तव में यह पूरी कक्षा ही होती थी। वे साथ–साथ आते, साथ–साथ खेलते और फिर साथ–साथ काम करते।

तीसरी बात यह हुई कि शिक्षकों ने पाया कि जब

कोई बच्चा अकेले काम करता, तो वह उस तरह की समझ हासिल न कर पाता, जो तब संभव होती थी जब वे समूह में काम करते थे, आपस में बातचीत करते हुए, विचारों को उछालते हुए, वगैरह। तो हम सबने, शिक्षकों और बच्चों ने साथ बैठकर स्थिति की समीक्षा की और तय किया कि हमें पुरानी व्यवस्था में लौट जाना चाहिए, जिसमें हम समूहों में काम करते थे और उस तरीके का पालन नहीं करना चाहिए जिसका वर्णन तोत्तो चान में किया गया था।

बच्चे में प्रकृति की अवधारणा

'प्रकृति क्या है', इसकी अवधारणा बच्चे के दिमाग में होती है। यह बात मुझे एक घटना के दौरान उजागर हुई थी, वह घटना बताती हूं। हमारे स्कूल के बच्चे केरल में वायनाड के एक आदिवासी स्कूल में गए थे। इस स्कूल का नाम है कनवू। वे वहां आदिवासी बच्चों के साथ तीन महीने रहे थे। वे उनके साथ जंगलों में भी गए थे। वे आदिवासी बच्चे पूर्णा के समूह से उम्र में बड़े थे। वे जंगल में गए और अचानक उन्होंने एक पेड़ पर सिवेट बिल्ली (मारपट्टी) देखी। एक आदिवासी बच्चे ने तत्काल सायकिल की एक तानी ली और उससे एक छोटा–सा तीर बना लिया, और बिल्ली को मार गिराया। उसे वहीं जंगल में गुपचुप खा भी गए क्योंकि उन्हें पता था कि बेबी ममन, जो कनवू स्कूल चलाती हैं, को पता चलेगा तो वे बहुत नाराज होंगी। हमारे स्कूल के बच्चे हतप्रभ थे, क्योंकि उन्हें पता था सिवेट बिल्ली एक विलुप्त प्रजाति है, मगर साथ ही वे उस लड़के के हुनर पर भी अचंभित थे जो यह काम कर सकता था। तो अब प्रकृति को लेकर यह विरोधाभासी विचार था – आदिवासी बच्चों की प्रकृति की धारणा शायद अलग थी, जिसमें बिल्ली का होना एक सामान्य बात है और वह जीवन–मृत्यु के चक्र का एक हिस्सा थी और उसे मारना कोई बड़ी बात न थी। मगर पूर्णा के शहरी बच्चे एक ऐसे परिवेश से थे जहां बिल्ली दुर्लभ है और उसकी रक्षा की जानी चाहिए, और उसे खाने की वस्तु के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। वह एक ऐसी चीज है जिसे अभयारण्य में सुरक्षित रखा जाना चाहिए। यहां हमें प्रकृति की परस्पर विरोधी धारणाएं नजर आती हैं।

हमें बच्चों को पर्यावरण से संबंधित शब्दावली समझने में भी समर्थ बनाना होगा। जैसे, उपर्युक्त घटना के संदर्भ में मैंने अभयारण्य का जिक्र किया, तो अभयारण्य क्या होता है? क्या आप अभयारण्य में से लोगों को विस्थापित करते हैं? पूर्णा की एक छात्रा ने आगे चलकर वन्य जीवन जीव विज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि पूरी की, उसने जंगल की धारणा के इस मुद्दे पर भी गौर किया। जैसा कि उपग्रह से प्राप्त चित्र दर्शाते हैं, आसपास रहने वाले लोगों के कारण आरक्षित वन सिकुड़ते जा रहे हैं। आसपास बसे ये लोग कौन हैं? इनमें से कई सारे लोगों को यहां तब बसाया गया था जब कोई बांध परियोजना शुरू हुई थी। या उन्हें अभयारण्य से बाहर निकाला गया है क्योंकि अभयारण्य एक केंद्र है, एक सुरक्षित क्षेत्र है, जहां लोग नहीं रह सकते। यह लड़की एक बुजुर्ग आदमी से मिली, जो एक विस्थापित आदिवासी थे। उन्होंने बताया, 'ठीक है, उन्होंने मुझे तो जंगल से बाहर कर दिया है, मैं अपना जंगल लगा लूंगा।' वास्तव में उन्होंने वे सारे बीज इकट्ठे कर लिए थे, जिनके साथ सोलिगा समुदाय के एक सदस्य के रूप में रहते आए थे, और उन्हें अपनी आधा एकड़ सरकारी जमीन पर उगाया था। उन्होंने बताया कि वे रागी या वैसी कोई चीज नहीं उगाएंगे क्योंकि वे उन्हें उगाना जानते नहीं। मगर उन्होंने अपने बीज संग्रह का उपयोग किया। मेरे ख्याल में यह अद्‌भुत बात है कि किसी ने ऐसा किया, और वे पर्यावरण के प्रति काफी सजग हैं। आप उन्हें जंगल के बाहर तो ले जा सकते हैं, मगर जंगल को उनसे बाहर नहीं कर सकते।

बच्चा प्रकृति के रूप में

बच्चा स्वयं प्रकृति है। यह विचार वैसे तो वैकल्पिक शिक्षा के साहित्य में मौजूद है, जरूरत है कि हम इस पर सैद्धांतिक व व्यावहारिक दोनों नजरियों से विचार करें। हम शिक्षा से क्या अपेक्षा करते हैं? सबसे पहले तो मैं यह कहूंगी कि शिक्षा से कुछ अपेक्षा करना सही है क्योंकि शिक्षा सायास होती है। यह कोई बेतरतीब प्रक्रिया नहीं है। हर समाज में अपने लोगों को उन चीजों में शिक्षित करने की प्रक्रियाएं होती हैं जो उन्हें महत्त्वपूर्ण लगती हैं। यह प्रक्रिया सायास होती है और सोची–समझी होती हैं। फिलहाल हो यह रहा है कि जैसे–जैसे शिक्षा का यह खास स्वरूप फैल रहा है, वैसे–वैसे शिक्षा के स्थानीय ढांचों की उपेक्षा हो रही है, क्योंकि उनके पास इनके बारे में बातें करने की वैसी शैली नहीं है। यदि आप गांव में अपने दादा–दादी, नाना–नानी के साथ रहते हैं, तो जो कुछ आप सीखेंगे वह उससे बहुत अलग होगा जो आप स्कूल में सीखते हैं। तो यदि आप दादा–दादी, नाना–नानी के साथ किसी भी कुदरती परिवेश में बिताई गई अवधि को छोटा कर देते हैं, तो उस तरह के ज्ञान का क्या होता है? वह कहां जाता है? उदाहरण के लिए, एक दिन मैं बस में एक बुजुर्ग महिला से मिली थी, उनके हाथ में कुछ घास–फूस थी। मैंने पूछा कि ये काहे के लिए हैं, तो उन्होंने बताया कि ये उनके पेट के लिए अच्छी हैं। उन्होंने यह भी कहा कि "अगली बार जब तुम्हें पेट में दर्द हो तो डॉक्टर के पास जाने की बजाए यही पौधा खा लेना।" क्या उनकी बेटी इस पौधे का उपयोग इसी तरह करेगी? और जिस रफ्तार से सड़कें चौड़ी हो रही हैं, और हर चीज पर कॉन्क्रीट बिछाया जा रहा है, क्या कुछ सालों बाद ये जड़ी–बूटियां नजर भी आएंगी? क्या किसी को पता भी चलेगा कि हमने क्या खो दिया? जब हम शिक्षा के कुछ खास रूपों के बारे में और जीवन की जो शैली हम अपनाते जा रहे हैं, उसके बारे में सोचते हैं, तो इस तरह के सवाल मेरे मन में आते हैं। शिक्षा के हर रूप में प्रकृति की एक खास समझ निहित होती है और यदि हम प्रकृति व पर्यावरण की एक ऐसी समझ उभारना चाहते हैं जो हमें इस धरती पर टिकाऊ ढंग से जीने की गुंजाइश दे, तो हमें इसके प्रति सजग रहना होगा।

पूर्णा की नई इमारत देहाती क्षेत्र में, मुख्य शहर से काफी दूर इस मकसद से बनाई गई थी कि हमें अपने परिवेश के साथ प्राकृतिक ढंग से जुड़ने का अवसर मिले। पिछले एक–डेढ़ साल में स्कूल के चारों ओर आपको सिर्फ पेड़ और घनी झाड़ियां नजर आती हैं। इस अवधि में पूर्णा के बच्चों और शिक्षकों दोनों ने आसपास की जमीन और जीवन से जुड़ना सीखा है। हम कई बार पैदल घूमने निकले हैं, जिन्होंने खोजी यात्राओं का रूप ले लिया, जहां बच्चों ने नई जगहों की खोज की और उन्हें नाम दिए हैं। इनमें से कुछ जगहों के नाम काफी संगीतमय हैं, जैसे 'सैफायर गार्डन' और 'एण्ड ऑफ दी वर्ल्ड'। कुछ नाम काफी ठोस धरातल पर भी हैं, जैसे 'दी फॉरेस्ट', और कुछ नाम मजेदार हैं, जैसे 'अंडरवेयर फैक्ट्री'। एण्ड ऑफ दी वर्ल्ड, वास्तव में स्कूल के अहाते का अंतिम छोर है, जिसके बाद तेज ढलान है।

स्कूल के आसपास के कई पेड़ व दृश्य चित्रों के केंद्रीय विषय रहे हैं। विभिन्न उम्र समूह के बच्चों ने आसपास के कई सामान्य पेडों को पहचानना सीख लिया है, और वे उन पर घोंसले बनाने वाले कई पक्षियों को भी पहचानते हैं। काफी सारे बच्चों को जंगल में रहने वाले कीड़े–मकोड़े – मकड़ियां, गिंजाइयां, फैक्टूट, बरसात में फुदकते छोटे–छोटे मेंढक, लेडीबर्ड गुबरैले, झिंगुर और तमाम रंगों और आकारों के गुबरैले खोजने व देखने में मजा आता है। कुछ बच्चों ने स्कूल के आसपास से लकड़ी के लट्ठे, पत्तियां और ईंटें लेकर अपने वृक्ष–घर भी बना लिए हैं। अन्य बच्चों ने पेड़ों के घेरे के बीच

में ईंटें जमा ली हैं, जहां वे गपशप और पार्टियां करते हैं। कई बच्चों ने ऐसे–ऐसे पेड़ों पर चढ़ने की कोशिश की है जो बहुत सरल नहीं लगते हैं। यदि आपको यह जानना हो कि किन पेड़ों पर चढ़ना सरल है, या किन पेड़ों पर चढ़कर स्कूल या खेल के मैदान का सबसे अच्छा नजारा दिखता है, किन पेड़ों पर बैठना सबसे आरामदायक होता है, तो आपको बस इतना करना होगा कि किसी भी बच्चे से पूछ लीजिए और बहुत सारे बच्चे आपको अपनी–अपनी राय देने लगेंगे और पुराने स्कूल के पेड़ों और नए स्कूल परिसर के पेड़ों की तुलना करने में आपकी मदद करेंगे। मैं यह और बता दूं कि हर नए बच्चे को पेड़ पर चढ़ने में मदद मिली है। उनके पास पेड़ पर चढ़ने के क्रमिक अभ्यास हैं। यह सब बच्चे अपने आप करते हैं, और इसमें शिक्षक की कोई दखलंदाजी नहीं है।

पैरेडॉइस लॉस्ट

अलबत्ता, नए हवाई अड्डे के निर्माण ने पूर्णा के आसपास काफी कुछ बदल दिया है। एक तो, पूर्णा की सड़क पर ट्राफिक बहुत बढ़ गया है। इसके अलावा, कई लोग स्कूल के आसपास खाली पड़ी जमीनें खरीद रहे हैं या बहुत पहले खरीदी गई जमीन पर निर्माण कर रहे हैं। पिछले कुछ दिनों में, स्कूल के प्रवेश द्वार के सामने की जमीन साफ कर दी गई है। सारे पेड़ काट दिए गए हैं, काफी सारी झाड़ियां उखाड़ दी गई हैं और सारी सूखी घास को जला दिया गया है। यह सब जिस रफ्तार से किया गया, वह चकरा देने वाला था। सोमवार को खिड़की से देखते तो आपको सुंदर पेड़ नजर आते। गुरुवार आते–आते इन पेड़ों के नाम पर बस ठूंठ, लकड़ी का बढ़ा–सा ढेर और जली हुई काली जमीन बची थी। जमीन के इस टुकड़े की सफाई के पहले दिन बहुत सारे बच्चे बहुत बेचैन थे और जानना चाहते थे कि क्यों सारे पेड़–पौधों को उखाड़ा जा रहा है। उन्हें खास तौर पर, यह चिंता सता रही थी कि पेड़ क्यों काटे जा रहे हैं। दूसरे दिन स्कूल आते ही कई बच्चों ने पहला काम सामने की जमीन का मुआयना करने का किया कि कितना नुकसान हो चुका है। उस समय तक पहले दो पेड़ काटे जा चुके थे। इसने कई बच्चों में आक्रोश पैदा किया और पूरे दिन वे ऐसे सवाल पूछते रहे, "पेड़ों को काटने की क्या जरूरत है? ऐसा क्यों नहीं करते कि घास साफ कर लें और पेड़ों को रहने दें?" उन्हें यह भी समझ नहीं आ रहा था कि हममें से कोई कुछ कर क्यों नहीं रहा है। एक बच्ची ने तो यह सुझाव भी दिया उसकी पूरी कक्षा और जो भी पेड़ों की परवाह करते हैं, सब जाएंगे और पेड़ों से चिपक जाएंगे, उन्हें बचाने के लिए। तीसरे दिन, अपने–अपने तरीकों से, उन्होंने बदलाव को स्वीकार करना शुरू कर दिया था। उस दिन चर्चा के दौरान, यह देखना रोचक था कि जो कुछ बच्चे 'भू–माफिया' जैसे शब्दों से परिचित थे, उन्होंने बताया कि कैसे अच्छी जगहों पर खाली पड़ी जमीन को गैर–कानूनी ढंग से हथिया लिया जाता है और उस पर निर्माण किया जाता है। गुरुवार के दिन, सामुदायिक कार्य के एक सत्र में, मूनस्टोन समूह के बच्चों से पूछा गया कि स्कूल के सामने वाली जमीन के टुकड़े पर क्या हो रहा है। उनके कुछ जवाब यहां देखिए :

दीपा– जब पेड़–पौधे काटे जा रहे थे, तो मुझे बहुत बुरा लगा। मगर यदि वे उस लकड़ी और जमीन का उपयोग घर बनाने जैसे किसी अच्छे काम में करेंगे तो मुझे थोड़ा अच्छा लगेगा। मुझे उन पेड़ों की बहुत याद आएगी क्योंकि हम वहां लुका–छिपी खेलते थे, और कभी–कभी पढ़ाई करते थे। हमें वे पेड़ बहुत अच्छे लगते थे।

पीटर– ठीक ही है। यह उनकी जमीन है। मगर उन्हें और ज्यादा पेड़ लगाने चाहिए। क्योंकि पेड़ों से हमें ऑक्सीजन और छाया मिलती है। पेड़ पक्षियों और जानवरों के घर होते हैं। यदि पेड़ हों, तो आप वृक्ष–घर बना सकते हैं।

अखिल –सब एकदम ठीक है। वह मेरी जमीन नहीं है। यदि वह मेरी जमीन होती, तो मैं वैसा नहीं करता।

गणेश –वे लोग कागज या प्लाइवुड बनाने के लिए, पैसे के लिए पेड़ काट रहे हैं। यदि आप इस तरह से पेड़ काटेंगे, तो आप प्रदूषण बढा रहे हैं, अपनी धरती को नष्ट कर रहे हैं, और खुद को नष्ट कर रहे हैं। इसलिए कृपया, पेड़ काटना बंद कीजिए। ज्यादा पेड़ लगाइए और जहां तक संभव हो, चीजों को रिसायकल करने की कोशिश कीजिए। हम भी तो प्रदूषण और पेड़ कटाई को रोकने की कोशिश कर रहे हैं। कृपया पेड़ों को बचाइए।

अरनव – जो लोग पेड़ काट रहे हैं, वे बुरा काम कर रहे हैं। उन्हें पेड़ नहीं काटना चाहिए। क्योंकि वे पर्यावरण को बिगाड़ रहे हैं और हरियाली कम कर रहे हैं।

ध्रुव पुजारी –वे जो कुछ कर रहे हैं, उससे मैं बहुत मायूस हूं। मैं और मेरे दोस्त उस जगह को स्वर्ग कहते थे क्योंकि वहां पक्षियों और तितलियों की इतनी अद्भुत विविधता है। मुझे उस जगह की कमी बहुत खलेगी।

मनोज –मुझे लगता है कि वे जितने पेड़ काटें, उससे ज्यादा उन्हें लगाने चाहिए। मगर मुझे लगता है कि सरकार को भी एक कानून बनाना चाहिए कि लोग जितने पेड़ काटें, उससे ज्यादा लगाएं। जमीन साफ होने का मुझे बहुत दुख है, मगर यह प्रकृति का तरीका भी है।

ध्रुव आर –जिन लोगों ने पेड़ काटे हैं, उन्होंने बुरा काम किया है। क्योंकि वे बहुत सारे जीवन की हत्या कर रहे हैं और अब वे उसे जला रहे हैं, जिससे प्रदूषण होता है। इसलिए मुझे लगता है कि उन्हें और ज्यादा पेड़ लगाना चाहिए।

गगन –कुछ लोग हमारे स्कूल के सामने पेड़ काट रहे हैं और जमीन का उपयोग अपने काम के लिए कर रहे हैं। वे जो कर रहे हैं, वह मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। वे हमारे बढ़िया एयर कंडीशनर्स बरबाद कर रहे हैं। मैं नहीं चाहता कि वे पेड़ काटें।

समीर–जमीन साफ करने के लिए पेड़ काटना तो बुरी बात है ही, ऊपर से लकड़ियों को जलाने से प्रदूषण भी हो रहा है। यदि पेड़ काटने ही हैं, तो कम से कम उनका उपयोग मकान जैसी कोई उपयोगी चीज बनाने में करो। लकड़ी को जलाना क्यों?

तो एक मायने में बच्चे स्वामित्व के मुद्दों, जमीन के वैकल्पिक उपयोग को देख रहे हैं और उनके प्रति संवेदनशील बन रहे हैं, और इन सरोकारों से सम्बंधित कानूनी मुद्दों से भी दो–चार हो रहे हैं। उन्होंने कहा कि सरकार को कानून बनाना चाहिए। वे इस बात का सम्मान करते हैं कि कोई सम्पत्ति किसी की हो सकती है, हालांकि उस पर भी सवाल उठा सकते हैं। मगर इतना स्पष्ट है कि जब गुंजाइश दी जाती है, तो बच्चे खुद चीजों के बारे में सोचते हैं। उनमें काफी छोटी उम्र से ही ऐसे कई मुद्दों के बारे में सोचने की क्षमता है।

इंदिरा जयसिम्हा : पूर्णा स्कूल (बैंगलूरू) की संस्थापक रही हैं। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी में काम करती हैं।
साभार : 10 वां पार्टनर्स फोरम : 'पारिस्थितिकी एवं शिक्षा' सेमिनार 16–18 सितम्बर 2009, बैंगलूरू

■ सरोकार

निजी शिक्षा के मायने

अनुराग बेहार

इस साल जनवरी महीने में 'मिंट' अखबार ने भारत में पिछले दशक में घटित अच्छी व बुरी चीजों को लेकर ग्राफिक्स यानेकि रेखाचित्र प्रकाशित किया था। इस ग्राफिक्स में निजी स्कूलों की संख्या में बढ़ोत्तरी को एक अच्छे विकास के रूप में प्रमुखता से चित्रित किया गया था। यह कोई वाजिब दावा तो नहीं कहा जा सकता। निजी स्कूलों की संख्या में बढ़ोतरी यानेकि स्कूली शिक्षा में निजीकरण का ही बोलबाला हो, यह सकारात्मक विकास नहीं है। स्कूलों के निजीकरण से भारत की शिक्षा की समस्या का समाधान करने में मदद नहीं मिलने वाली है।

सबूतों, प्रणालीगत अनुभवों व सिद्धांतों के बावजूद यह मान्यता घर कर चुकी है कि निजी स्कूल बेहतर प्रदर्शन करते हैं। मिंट ने निजीकरण के पक्ष में एक गूंज पैदा की है। प्रसंगवश भारत में कानूनी तौर पर शिक्षा को उद्यम के रूप में नहीं देखा जाता जिससे लाभ अर्जित किया जाए, मगर सच्चाई यह है कि ऐसे निजी बिरले ही होंगे जो कमाई नहीं कर रहे हों।

पहली बात तो यह कि भारत समेत दुनिया के सबूत बताते हैं कि निजी स्कूल सार्वजनिक स्कूलों की बनिस्बत बेहतर प्रदर्शन नहीं करते। निजी स्कूलों व सार्वजनिक स्कूलों के बच्चों के सीखने के स्तर का फर्क मुख्य रूप से उनकी सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि (अपेक्षाकृत सक्षम बच्चे निजी स्कूलों में जाते हैं), बच्चों का चुनाव (निजी स्कूल उन बच्चों का चुनाव करते हैं जो पहले से ही सक्षम हो) व स्कूल के बाहर के दूसरे अन्य कारण जैसे कि ट्यूशन वगैरह हैं। सरल शब्दों में कहें तो इसका अर्थ यह है कि निजी स्कूल अपने आप में सार्वजनिक स्कूलों की तुलना में बेहतर शिक्षा देने का काम नहीं करते।

निजी स्कूलों की श्रेष्ठता उन सतही व तथाकथित गुणवत्ता के प्रतीकों से प्रभावित होती हैं, जिनकी प्रकृति सामाजिक होती है मसलन, टाई बांधना व बढ़िया जूते पहनना, अच्छे दोस्त, अंग्रेजी माध्यम आदि। श्रेष्ठता के प्रतीक शैक्षिक नहीं हैं। इसी नजरिए को निजी स्कूलों के छात्रों के बेहतर प्रदर्शन से जोड़कर देखा जाता है व इसे प्रकट तौर पर मान्यता दी जाती है। सच्चाई जानने के लिए लगातार मामले की तह में जाने की जरूरत है। दरअसल, छात्रों के प्रदर्शन में फर्क स्कूल की वजह से न होते हुए बाहरी सामाजिक कारणों से है। गंभीरता के साथ किए गए अध्ययन इस मसले पर स्पष्ट बयां करते हैं। मैं तीन संबंधित पठन सामग्री आपके सम्मुख रखना चाहता हूं जिन पर नजर डाल सकते हैं। स्वाभाविक है कि ये तीनों पठन सामग्री मैंने सोच–समझकर चुनी है, जो वैचारिक तौर पर निजीकरण समूह के खिलाफ नहीं है।

अंतर्राष्ट्रीय विद्यार्थी आकलन के लिए ओईसीडी कार्यक्रम ने इस मुद्दे पर नजरिया व्यक्त किया है, जिसका संक्षिप्त सार www. oecd.org/piasa/paisainfocus/48482894.pdf नामक साईट पर उपलब्ध है। आईडीएफसी–2012 की रपट के पांचवे अध्याय में 'भारत में शिक्षा का निजीकरण' शीर्षक के तहत खुलकर दिलचस्प व व्यापक चर्चा की गई है। 'भारत के हर बच्चे का बेहतरी से सीखना : स्कूल के प्रावधान व मदद के निहितार्थ की जांच' पर रुकमणी बैनर्जी व विलियमा वाधवा ने लिखा है। जो अकाद्मिक

मामलों में दिलचस्पी रखते हैं, वे अमीता चुगधर व एलिजाबेथ क्वीन के 'इकॉनामिक्स ऑफ एज्यूकेशन रिव्यू' नामक पत्रिका के लेख, 'निजी स्कूली शिक्षा व उपलब्धि के रिश्ते : भारत के ग्रामीण व शहरी नतीजे' पर नजर डाल सकते हैं।

एक ओर, जो निजी स्कूल प्रत्येक बच्चे को गुणवत्तापरक शिक्षा देने का बेहतर कार्य नहीं करते, दूसरी ओर, काफी हद तक निजीकृत व्यवस्था लाभ के मकसद से संचालित होती है, जो शिक्षा के सामाजिक उद्देश्यों के प्रयोजन के प्रति गलतफहमी पैदा करते हुए सामाजिक–आर्थिक फर्क व अन्याय के मसलों को और पक्का बनाती है।

यही वजह है कि इस प्रकार का जाना–पहचाना निजीकृत शिक्षा का बाजार, लोगों की आय का जरिया बन चुका है। लेकिन शिक्षा का व्यापक तौर पर सबसे बड़ा उद्देश्य गैर आर्थिक है, जो समाज को फायदा पहुंचाए। मसलन, दूसरों के बीच पूर्वाग्रह व भेदभाव कम करे, लोकतांत्रिक मूल्यों का समर्थन करते हुए समानता को बढ़ाए। निजी को छोड़कर खासकर फायदा वाले क्षेत्र की बात करे, जो वे शिक्षा उपलब्ध कराते हैं वह बहुत थोड़ी और वह भी कमजोर किस्म की होगी और उन्हें नहीं मिलेगी जिन्हें उसकी जरूरत है।

सामाजिक, अर्द्धसार्वजनिक बढ़िया किस्म की स्कूली शिक्षा दाता व उपभोक्ता के बीच विषमता के आधार पर संयोजित होती है। इसमें एक पक्ष, जो शिक्षा देने वाला है वह है तथा दूसरा पक्ष, शिक्षा पाने वाला है उसके स्तर में काफी फर्क होता है तथा स्कूली शिक्षा की तासीर कुछ इस तरह की होती है कि उसके परिणाम दूरगामी होते हैं। इन विशेषताओं व उद्देश्यों की वजह से स्कूली शिक्षा में गैर बाजारी संस्थागत ढांचे ही उपयुक्त हो सकते हैं।

निजीकरण की हद तक जाने वाले विभिन्न देशों में निजी स्कूलों में जाने वाले छात्रों के प्रतिशत पर जरा नजर डालते हैं। अमेरिका में 9 फीसदी, जापान में 6 फीसदी, दक्षिणी कोरिया में 2 फीसदी, स्कैंडेनिविया में 1 फीसदी, ब्रिटेन में 6 फीसदी, फ्रांस में 14 फीसदी, चीन में 4 फीसदी व अन्य ओईसीडी 10 फीसदी बच्चे निजी स्कूलों में अध्ययनरत हैं। (जो आंकड़े यहां प्रस्तुत किए गए हैं, उन्हें घट–बढ़ के साथ पूरी संख्या में प्रस्तुत किया गया है।) दुनिया के प्रारंभिक शिक्षा के स्कूल (14 साल तक के बच्चों) के आंकड़े 14 फीसदी औसत के हैं। इस फेहरिस्त में भारत का आंकड़ा 25 फीसदी का है, जो तेजी से बढ़ता जा रहा है। हमारा योगदान जो भी है, वह वैश्विक औसत से ऊपर जा रहा है। भारत स्कूलों के निजीकरण के मामले में लंबे मार्जिन के साथ विश्व चैंपियन हुआ जा रहा है।

इतना ही नहीं, पूरी तरह से मुक्त बाजार व निजीकरण सेक्टर की प्रभावशाली भूमिका के चलते कई देशों में स्कूली शिक्षा को लेकर सार्वजनिक तंत्र है। क्या हम जो देश बना रहे हैं, जो भारी गलती कर रहे हैं, उसको लेकर हमें क्या रुककर चिंतन नहीं करना चाहिए? जो समस्या पैदा की है, वह समाज ने की है न कि निजी स्कूलों ने। इसलिए हल उस दमघोटूं समस्या में नहीं है। भारत की शिक्षा समस्या का सटीक हल, सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को बेहतर बनाने में है। और इसके लिए दशकों तक किए जाने वाले व्यापक, निरंतर प्रयास व काफी अधिक धन खर्च करने की जरूरत होगी।

सभी व्यापक क्षेत्रों जैसे कि स्वास्थ्य, सुरक्षा, पानी व पर्यावरण के क्षेत्र में सार्वजनिक व्यवस्था को पूरी तरह से त्यागा जा रहा है। मगर सार्वजनिक प्रणाली को हम स्कूलों के साथ गहरी समस्या के महज एक पहलू के रूप में देखते हैं। अगर हमें एक सशक्त देश बनाना है जहां समता, लोकतांत्रिक न्याय जैसे मूल्य हों, तो हमें अपने यहां सार्वजनिक व्यवस्था को बेहतर बनाना होगा।

अनुराग बेहार : अज़ीम प्रेमजी यूनिवर्सिटी (बैंगलूरू) के वाइस चांसलर हैं।

कैसे जानें अपने इतिहास को

पुष्पराज सिंह राणावत

शिक्षा में एक कहावत प्रचलित है, 'हिस्ट्री – ज्योग्राफी बेवफा, रात को रटी सुबह सफा।' यद्यपि इतिहास को पढ़ना–पढ़ाना इसी तरह से होता रहा है, तथापि एनसीएफ 2005 के आने के बाद अब कुछ परिस्थितियां बदलने लगी हैं। विशेषतौर से पाठ्यपुस्तक लेखन की प्रक्रिया व सीखने–सिखाने के बारे में शिक्षकों का नजरिया कुछ बदलता–सा दिखाई दे रहा है। यह एक सच्चाई है कि सामाजिक विज्ञान को पढ़ाने में बच्चों को आसपास के स्थानों के भ्रमण व अवलोकन करने के मौके, उनके सीखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। गांधीजी का शिक्षा दर्शन भी इसी बात की पैरवी करता है। प्रस्तुत आलेख में लेखक ने इसी दृष्टिकोण को, अपने भीमबेटका व आदमगढ़ गुफाओं के भ्रमण व अवलोकन में अभिव्यक्त किया है।

क्या आपमें से किसी को भी, कभी ऐसा लगा है कि कोई ऐसी मशीन हो, जिसके सहारे आप अतीत या भविष्य की यात्रा कर सकें?

व्यक्तिगत तौर पर ये पूरा विश्वास है कि आप में से अधिकांश ने कभी न कभी ऐसा जरूर महसूस किया होगा। हाल ही में ऐसा ही अनुभव मेरे साथ भी हुआ। मैं अपने साथियों के साथ एक कार्यशाला में भाग लेने के लिए 'एकलव्य', होशंगाबाद गया था। कार्यशाला के दौरान हमें भीमबेटका व आदमगढ़ की गुफाओं को देखने का मौका मिला। इन्हीं गुफाओं में घूमते हुए यहां कभी रहे शिकारी संग्राहक इंसानों के बारे में जानने पर, मुझे कुछ ऐसा ही महसूस हुआ कि काश, मैं भी उस समय में पहुंच जाऊं और उस समय के जीवन को प्रत्यक्ष देख पाऊं। भीमबेटका भोपाल–होशंगाबाद के मध्य मुख्य सड़क से 3 किलोमीटर अंदर की तरफ जंगल में स्थित एक ऐतिहासिक परिक्षेत्र है। ऐतिहासिक इसलिए, क्योंकि यह शिकारी संग्राहक मानव का निवास स्थान रहा है और उनके द्वारा बनाए गए शैलचित्र यहां मिलते हैं।

इस स्थान की खोज पुरात्ववेता वी.एस. वाकणकर ने की थी। वे भोपाल से ट्रेन द्वारा इस मार्ग से गुजर रहे थे, तो उन्हें दूर से ये गुफाएं दिखी थीं।

हम लगभग 30–35 के समूह में होशंगाबाद से भीमबेटका पहुंचे। जब हम मुख्य स्थल पर पहुंचे तो आश्चर्यचकित थे। वहां बहुत सी बड़ी–बड़ी गुफाएं थीं, जिन्होंने हवा के कटाव की वजह से अजीब सी आकृतियां अख्तियार कर ली थीं। इन्हें भीमबेटका के पाषाण आश्रय (रॉक शेल्टर) भी कहते हैं। इन्हें लगभग एक लाख साल पहले हमारे पूर्व के मानव 'होमो इरेक्टस' ने अपना आश्रय स्थल बनाया था। इसकी चर्चा आगे करेंगे। हम सब छोटे–छोटे उपसमूहों में बंट गए और भीमबेटका की गुफाओं में चले गए। वहां सभी गुफाओं में चट्टानों पर लाल व सफेद रंग के शैलचित्र बने हुए थे। ज्यादातर

शैलचित्र जानवरों के, शिकार के, रोजमर्रा के जीवन से जुड़े थे। यहां घुड़सवारों, सेना व युद्धों के चित्र भी थे। हमने लगभग 20–22 गुफाएं देखीं। प्रत्येक गुफा की दीवार पर अनेकों चित्र थे। एक गुफा की दीवार पर तो सैंकड़ों जानवरों के चित्र थे, इसे 'जू–रॉक' भी कहते हैं। इन चित्रों में एक महत्त्वपूर्ण बात यह देखी कि ये सभी चित्र अलग–अलग रंगों के थे व इनमें कुछ हल्के व कुछ गहरे थे। साथ ही ये चित्र अलग–अलग स्तर (लेयर) पर बने थे। शायद, यह शिकारी मानव के लिए ऐसा स्थान रहा होगा, जहां वे रिवाज के तौर पर या शिकार पर जाने से पहले चित्र बनाते थे।

हमारे साथ एकलव्य के वरिष्ठ साथी व इतिहासकार सी.एन. सुब्रह्मणियम् भी थे। वे हमें प्रत्येक गुफा में बने इन चित्रों के बारे में बताते जा रहे थे। उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण बात इन चित्रों के संबंध में बताई कि ये सभी चित्र अलग–अलग समय पर बने हैं और ये आज से 10 हजार वर्ष से लेकर 20 हजार वर्ष तक की कालावाधि में बने हैं। अतः इनकी शैली, विषयवस्तु में पर्याप्त भेद है। इतिहासकार चट्टानों के स्तरों के आधार पर इनके समय की गणना करते हैं। सारी गुफाएं देखने के बाद हम एक जगह एकत्र हुए, तो सभी के मन में बहुत से सवाल थे– जैसे उन्होंने ये चित्र क्यों बनाएं, इनका कालखण्ड क्या था? वे कैसे रहते थे? चित्रों में विविधता क्यों हैं? पाषाण उपकरण क्या होते हैं? इसी दौरान हमारी एक साथी तीन–चार पत्थरों के टुकड़े इकट्ठे करके लाई और कहने लगी, ये पाषाण के औजार हैं। सी.एन. सुब्रह्मणियम् ने हमें भीमबेटका शिकारी मानव, पाषाण औजारों (उपकरणों) व शैलचित्रों के बारे में महत्त्वपूर्ण बातें बताई। उन्होंने हमें जो बताया, मैं उसे यहां संक्षेप में प्रस्तुत करने की कोशिश करूंगा।

मध्यभारत का नर्मदा का क्षेत्र, जिसमें एक ओर विंध्य की पहाड़ियां हैं, तो दूसरी ओर सतपुड़ा के पहाड़ हैं। देखा गया कि आदि मानवों की इस क्षेत्र में बहुलता शुरुआत से रही है। मुख्य रूप से तीन–चार कालवर्ग के मानव यहां रहे हैं। एक, हमसे पूर्व के मानव थे 'होमो सेपीयन'। उनसे पूर्व के मानव थे 'होमो इरेक्टस'। इनसे पूर्व थे 'होमो हैबिलिस'। इनसे भी पूर्व थे 'ऑस्ट्रेलोपिथीकस'। इन सभी तरह के मानवों की विस्तृत चर्चा हम यहां नहीं करेंगे, लेकिन ये सारे मानव अलग–अलग समय में इस क्षेत्र में रहे हैं और अपना जीवन यापन करते रहे हैं। इसलिए प्रारम्भिक मानवों की गतिविधियों के केन्द्र के रूप में यह क्षेत्र काफी समृद्ध माना गया है।

आमतौर पर यह माना जाता है कि पाषाण औजारों या उपकरणों (स्टोन टूल्स) का इस्तेमाल सबसे पहले हमने शुरू किया। लेकिन हमसे भी पहले होमो इरेक्टस मानव ने पाषाण औजारों का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया था। यही नहीं, दो टांगों पर चलने (बाई पेडल) की शुरुआत हमसे भी पहले के मानवों में हो गई थी और यही वह समय था

महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का, जिसमें हम बंदरों से अलग होकर मानव कहलाए। दो पैरों पर चलना, हमारे इंसान बनने की सबसे पहली खूबी है, क्योंकि इससे हमारे हाथ स्वतंत्र हो गए, और अब हम बहुत–सी दूसरी चीजें भी कर सकते थे। पहले मानव के हाथ स्वतंत्र नहीं थे, तो उसका सारा काम जबड़ा करता था। लेकिन उसके हाथ स्वतंत्र होने पर उसके जबड़े का काम कम हो गया, जिससे इसका आकार भी छोटा होने लगा और दिमाग बढ़ने लगा।

तो यह इंसान के शुरुआती विकास की थोड़ी सी पृष्ठभूमि है। मुख्य बात यह है कि इंसान हाथ का इस्तेमाल करने लगा।

आइए, अब बात करते हैं पाषाण औजारों की। जो शुरुआती औजार मिलते हैं, वे आकार में बड़े हैं। इसका एक कारण तो यह है कि हमारे पूर्व के मानवों की हड्डियों का ढांचा हमसे काफी मजबूत था। दूसरा कारण है, हाथ की पकड़। होमो इरेक्टस के समय में उनके अंगूठे का विकास नहीं हुआ था। इसलिए उनकी मोटी पकड़ थी और वे अंगुलियों के माध्यम से किसी चीज को पकड़ते थे। अंगूठे का विकास भी एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था, जो कि केवल 'होमो सेपियन' में ही विकसित हुआ। इसे सम्मुख अंगूठा (अपोजेबल थंब) भी कहते हैं, जो हमारी सभी अंगुलियों का सामना कर सकता है, जिससे हमारी बारीक पकड़ विकसित हुई। यह 'होमो इरेक्टस' के पास नहीं थी, इसलिए उनकी पकड़ मोटी थी। वे मोटा व भारी पत्थर ही पकड़ सकते थे और उसके द्वारा काम कर सकते थे। इसलिए उस समय के पत्थर के औजार बड़े–बड़े होते थे जिनसे वे काटते थे, खोदते थे व छीलते थे। ये औजार ऊपर की ओर से पकड़े जाते थे और इनके दोनों तरफ काम करने की धार होती थी। बड़े पत्थर से औजार बनाने के लिए वे उस पत्थर की छोटी–छोटी चिप्स बनाते थे। हम बात कर रहे हैं हमसे पहले के मानव की यानी होमो सेपीयन से पहले के मानव की। कुछ वर्षों पहले नर्मदा के किनारे इसी समय के मानव की एक खोपड़ी मिली है, जो कि 'नियण्डरथल मानव' के समकालीन है, जिसे नर्मदा मानव भी कहते हैं।

इसके बाद जब मानव का सम्मुख अंगूठा विकसित हो गया, तो वह छोटे–छोटे व बारीक पत्थर के औजार बनाने लगा जिन्हें 'माइक्रोलिथ' कहते हैं। माइक्रोलिथ औजार बहुत ही छोटे होते हैं, लगभग एक–आधा सेमी. लम्बाई–चौड़ाई के। इन्हें नरम स्फिटिक पत्थर से बनाया जाता था। इन्हें बनाने की कला भी शिकारी मानवों में बहुत विकसित थी। ये जो इंसान माइक्रोलिथ औजार का इस्तेमाल कर रहे थे, संभवतया ये ही इंसान इन चट्टानों पर शैलचित्र बना रहे थे। यह समय लगभग 12 हजार साल पहले से शुरू होता है। यह भी जरूरी नहीं है कि ये सभी शैलचित्र किसी एक समय में, एक

व्यक्ति या समुदाय ने ही बनाए हैं। इनका समय भी 10 से 12 हजार साल फैला हुआ है। भीमबेटका एक मात्र स्थान नहीं है, जहां ये चट्टानी कलाएं हैं। नर्मदा के पूरे क्षेत्र में हर 5–7 किलोमीटर की दूरी पर हमें चट्टानों में ये शैलचित्र मिलेंगे। विदिशा, सांची से लेकर इलाहाबाद तक ये अवशेष मिलेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि शिकारी मानव इस पूरे क्षेत्र में घूमते रहे हैं। उनका कोई एक स्थायी निवास स्थान नहीं था। वे शिकार का पीछा करते थे, फल–फूल का संग्रह करते थे और निरन्तर विचरण करते रहते थे। इसका पता इस बात से लगता है कि स्थायी आवास का जो कचरा होता है वह किसी अस्थायी निवास या पिकनिक स्थल के कचरे से अलग होता है। पुरातत्व अध्ययनों में यहां जो कचरा मिला है, वह किसी अस्थाई आवास से होने वाला कचरा है।

आइए, अब इन शैलचित्रों की बात करते हैं। इन शैल चित्रों की पुरातनता पता करने का कोई निश्चित तरीका नहीं है। जो लोग इनकी पुरातनता पता करते हैं, वे ज्यादातर अटकलें ही लगाते हैं, क्योंकि इनमें इस्तेमाल रंग वनस्पति रंग नहीं हैं। अतः जिस प्रकार हम अजंता–एलोरा के चित्रों की प्राचीनता पता कर सकते हैं, उस तरह से इनका पता लगाना मुश्किल है। हालांकि एक तरीका यह है कि चट्टान की जिस परत पर चित्र बने हैं, उसका व उसी परत से बने पत्थर के औजारों का आपस में संबंध देखकर काल निर्धारित किया जाए। लेकिन जैसा कि पत्थर के औजार भी हजारों वर्षों तक इस्तेमाल होते रहे हैं, इसलिए चित्रों का सही समय ज्ञात करना मुश्किल है। लेकिन हमने भीमबेटका में देखा है कि एक ही चट्टान पर बहुत से चित्र बने हुए हैं और वे एक दूसरे पर आच्छादित हैं। इस पर बहुत अध्ययन हुआ है और यह सामने आया है कि जो नीचे की परत पर चित्र हैं, वह बहुत पुराना है, और उस पर आच्छादित चित्र अपेक्षाकृत नया है। इस प्रकार इन चित्रों में आंतरिक क्रमबद्धता दिखती है, कि किस प्रकार के चित्र पहले बने थे, व उनके बाद किस तरह के चित्र बने। लेकिन हमारे पास इसका कोई निर्पेक्ष कालक्रम नही है, जिसके आधार पर हम यह पता लगा पाएं कि यह 10 हजार साल पुराना है, यह 5 हजार साल पुराना है। यदि हम इनकी आंतरिक क्रमबद्धता को देखें तो सबसे पुराने चित्र हल्के गेरूए रंग से बने हुए हैं। होशंगाबाद के पास आदमगढ़ की चट्टानों में बना एक हल्के गेरूए रंग का हाथी, सबसे पुराना चित्र माना जाता है। इसके बाद की परतों पर बने चित्रों में हल्के गेरूए के बाद हल्के पीले (ऑकर) रंग के बने चित्र आते हैं। इसमें बहुत से जानवरों के चित्र हैं और इस समय के चित्रों की एक खास शैली है, जिसे 'एक्स–रे' शैली कहते हैं। इसके बाद जो सबसे नए चित्र बने थे,

उनमें घोड़े, घुड़सवार, सेना आदि के चित्र हैं। लेकिन सबसे नए चित्रों में यह ध्यान रखने वाली बात है कि इनको बनाने वाले तो शिकारी मानव ही थे, जो इन गुफाओं, जंगलों में रहते थे। लेकिन वे सेना, घुड़सवारों को आते–जाते देखते थे और उनके चित्र बनाते थे।

बहुत सारी महिलाओं को गाते–बजाते भी दर्शाया गया है और एक चट्टान में तो एक अमूर्त चित्र भी है, ये सब भी सबसे बाद के चित्र हैं।

एक और महत्त्वपूर्ण चित्र हमने भीमबेटका में देखा, वह था एक विशाल सुअर का चित्र। माना जाता है कि 'वराह' अवतार का धार्मिक विश्वास भी यहीं से विकसित हुआ। इसी क्षेत्र में थोड़ा आगे जाने पर विदिशा है, जहां गुप्तकालीन वराह का मंदिर है। थोड़ा और आगे जाने पर वराह की एक और विशाल मूर्ति मिलती है। इसलिए यह माना जाता है कि वराह के अवतार की मान्यता भी भीमबेटका से जुड़ी हुई है।

इस प्रकार हम लोग काफी देर तक भीमबेटका की गुफाओं में घूमते रहे और हजारों साल पहले यहां रहे शिकारी संग्राहक मानवों के जीवन की कल्पना करते रहे। बचपन में चौथी, पांचवीं की सामाजिक अध्ययन की किताबों में पाषाण युग के बारे में मैंने जो किताब में पढ़ा और जो तस्वीरें उस अध्याय के

साथ देखीं, वे उस समय तो समझ में नहीं आई थीं, लेकिन वे सब आज एकदम आंखों के सामने आ खड़ी हुईं। बचपन में देखी तस्वीरों का यह असर होता है, कि जब भी पाषाण युग की बात होती है, मेरे मस्तिष्क में बचपन में देखी राजस्थान पाठ्यपुस्तक की यह तस्वीर ही उभर कर सामने आती है।

अपनी बात को समाप्त करते हुए, मैं यहां यह जरूर कहना चाहूंगा कि यहां दो घंटे में भीमबेटका के बारे में मैं जो समझ बना पाया, महसूस कर पाया, वह इससे पहले मुझे किसी इतिहास की किताब या कक्षा में नहीं मिली। इतिहास हमारे जीवन में, समाज में, प्राकृतिक स्थानों में बिखरा पड़ा है, लोगों की स्मृतियों में बिखरा पड़ा है और हम इसे केवल किताबों और कक्षाओं में खोजते हैं।

पुष्पराज सिंह राणावत : विद्या भवन शिक्षा संदर्भ केंद्र में हिंदी एवं सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक लेखन और प्रशिक्षण कार्यक्रमों में संलग्न हैं।

नई राह

मॉर्जरी सॉइक्स

मारवाड़ी एज्यूकेशन सोसायटी के सचिव श्रीमन्नारायण के सुझाव पर वर्धा में राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन का आयोजन किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता के लिए गांधीजी से निवेदन किया गया जिसे गांधीजी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। चूंकि सम्मेलन में सहभागियों की संख्या बहुत सीमित और स्तर ऊंचा था अतः सम्मेलन काफी उत्तेजक रहा और वहां सामने आए विचारों को सीधे अमली जामा पहनाने का रास्ता खुलने लगा। सम्मेलन में गांधीजी ने उन्हीं प्रस्तावों को सामने रखा जिन्हें पिछले दिनों वे हरिजन में लिख चुके थे। गांधीजी ने अपने भाषण में कई ऐसे बिन्दुओं को स्पर्श किया जो आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। सम्मेलन में कुछ प्रस्तावों को 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सालाना बैठक में राष्ट्रीय शिक्षा नीति के तौर पर स्वीकार कर लिया गया। डेढ़ साल बाद डा. जाकिर हुसैन के न्यौते पर दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया जिसका महत्त्वपूर्ण पहलू शिक्षा में कलाओं के विषय पर समय दिए जाने पर था। इस सवाल पर गंभीर चर्चाएं भी हुईं। इस सम्मेलन ने आनेवाले वर्षों के लिए एक ठोस और सतत् विकास की मनोवैज्ञानिक तैयारी कर दी थी। हालांकि राजनीतिक उथल–पुथल के कारण अन्य घटनाएं इस पर भारी पड़ गई। अब आगे...

गांधीजी 1942–44 के बीच जेल में थे। इस दौरान उन्होंने स्वास्थ्य और शिक्षा के सवाल पर गहन विचार–विमर्श किया। ग्रामोद्योग के लिए गांधीजी इन दोनों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका मानना था कि इंसान और समाज, दोनों की उन्नति के लिए स्वास्थ्य और शिक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वे इन्हें जमीनी स्तर पर स्वराज की कुंजी के रूप में देखते थे। दोनों ही कार्यक्रमों पर एक साथ काम किया गया। इसलिए आश्चर्य की बात नहीं है कि इन दोनों में कई समानताएं दिखाई देती हैं। गांधीजी की राय में न तो केवल एक क्लीनिक खोल कर सामुदायिक स्वास्थ्य का लक्ष्य हासिल किया जा सकता है और न ही महज एक स्कूल खोलने से ऐसी सामुदायिक शिक्षा संभव है जो स्वराज की भावना के पोषण–संरक्षण में सक्षम हो। गांधीजी की दृष्टि में यह विस्तार उनकी नई शब्दावली में साफ दिखाई देता था। इसके बाद वे न सिर्फ पूरे देश के बच्चों के लिए बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा को न्यूनतम आवश्यकता बताते हैं बल्कि नई तालीम यानी नई शिक्षा की भी बात करते हैं। 2 अक्टूबर, 1944 को अपने 75वें जन्मदिवस पर दिए एक महत्त्वपूर्ण अभिभाषण में उन्होंने इसी मसले को केंद्रीय विषय बनाया था। उन्होंने कहा कि शिक्षा को केवल स्कूलों तक सीमित करना ठीक नहीं है। यह आजीवन चलने वाली चीज है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक रोजमर्रा जिंदगी के हर पहलू से जुड़ी होनी चाहिए, जिससे प्रत्येक स्त्री–पुरुष को अपने गांव और क्रमशः देश और विश्व का बेहतर नागरिक बनने का मौका मिले। शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वह व्यक्ति

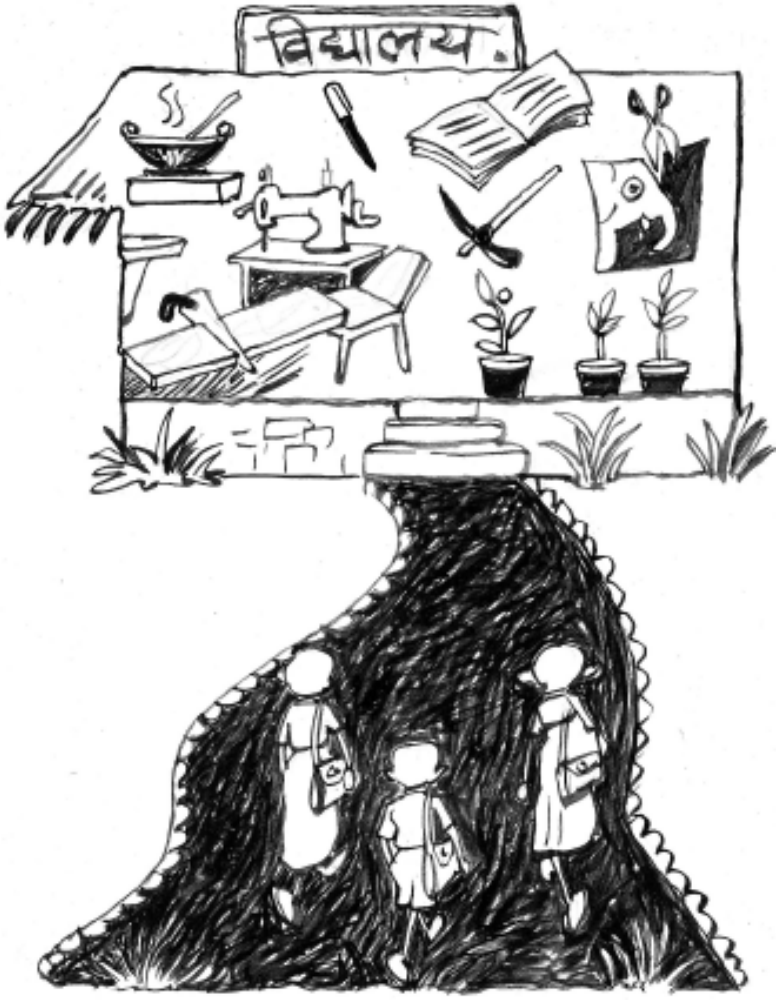

के मानसिक क्षितिज का विस्तार करे। वह अपनत्व की भावना का संचार करे ताकि मनुष्य संकीर्ण मानसिकता और मान्यताओं से ऊपर उठकर अस्पृश्यता, साम्प्रदायिक, विद्वेष और संदेह को त्याग सके।

गांधीजी ने आगे कहा कि जब एक सच्चे मानव समुदाय का उदय होता है, तो वह सर्वहित को ध्यान में रख कर कई प्रकार के सहकारी प्रयासों को हाथ में ले सकता है। भूस्वामी और भूमिहीन, शिल्पकार और मजदूर, पुरुष और स्त्री, सभी को अपने अनुभवों से सीखना चाहिए कि मिलजुलकर काम करने का वास्तविक अर्थ क्या होता है। यह काम 100 फीसदी स्वदेशी होना चाहिए, इसमें खेती और अन्य ग्रामोद्योग शामिल होने चाहिए ताकि वह हमें पूर्ण स्वराज की ओर ले जाए। संक्षेप में, उसमें अहिंसक अनुशासन और संगठन को रोजमर्रा जीवन में उतारने की हर संभावना होनी चाहिए।

दरअसल गांधीजी अहिंसक लोकतंत्र के सर्वांगीण प्रशिक्षण का आह्वान कर रहे थे और अपनी पहले कही जा चुकी बात को और विकसित कर रहे थे। शोषण और अन्याय का असली समाधान अहिंसक

लोकतंत्र ही है, जिसे सबके लिए सच्ची शिक्षा भी कहा जाता है। अक्टूबर 1944 के बाद के हितों में गांधीजी नाना विधियों से नई तालीम की सोच को विकसित करते रहे। उन्होंने कहा था, शिक्षा का प्रारंभ और अंत, सब कुछ केवल सत्य की खोज है। जब उनसे पूछा गया कि इस खोज की शुरुआत कहां से होनी चाहिए तो उन्होंने तैत्रोय उपनिषद् में वर्णित एक दृष्टांत की ओर इशारा किया, जिसमें बताया गया है कि कैसे एक साधक सत्य, यथार्थ और ईश्वर की खोज में निकलता है। उसे सबसे पहले भोजन में, फिर ज्ञान में और उसके बाद आनंद में सत्य के दर्शन होते हैं। कहने का मतलब ये है कि सत्य की खोज समग्र मानवीय आवश्यकताओं यानी शरीर, मस्तिष्क और आत्मा की आवश्यकताओं की संतुष्टि में निहित है। गांधीजी कई मौकों पर यह भी कहते थे कि नई तालीम की शुरुआत स्वच्छता से होती है और यहां स्वास्थ्य व शिक्षा के अंतर्संबंध और स्पष्ट हो जाते हैं। स्वच्छता से उनका आशय न केवल शारीरिक स्वच्छता, बल्कि अपने भौतिक वातावरण की स्वच्छता के साथ–साथ शौचालय और पाखाने की स्वच्छता से भी है। आंतरिक स्तर पर इस स्वच्छता का आशय हृदय की स्वच्छता से है, जो स्वच्छ वाणी, स्वच्छ विचार और स्वच्छ आकांक्षाओं में अभिव्यक्त होती है।

जनवरी, 1945 में हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने देश भर के शिक्षकों को गांधीजी के साथ इन क्रांतिकारी शैक्षणिक विचारों के बारे में चर्चा के लिए इकट्ठा किया। इस सभा में मुझे भी बुलाया गया था। उस सभा में गांधीजी के अभिभाषण के दौरान जैसी शांति थी, वह आज भी मेरी स्मृति में जीवित है। उन्होंने कहा था, अब तक आप सभी शांत जल में थे। अब मैं आपको खुले समुद्र में कूदने के लिए कह रहा हूं। इस समुद्र का विस्तार और गहराइयां असीम हैं। इसमें आपको केवल ग्रामीण हस्तकलाओं की रोशनी में ही अपना रास्ता ढूंढना है। उन्होंने हमें उत्पादक हस्तकलाओं को पूरी गंभीरता से लेने का अनुरोध किया। एक ऐसे नियोजित और सहकारी काम में हाथ बंटाना, अपने आप में एक मुकम्मल शिक्षा है, जिसमें प्रत्येक सदस्य सभी के श्रम से लाभान्वित होता है। उन्होंने हमें बाजार में बेचने के लिए नहीं बल्कि खुद अपने उपयोग के लिए कताई–बुनाई का काम करने की चुनौती दी। उन्होंने आह्वान किया कि हम स्वस्थ भोजन के लिए जरूरी सारी चीजें अपने गांव में पैदा करें, अपने आसपास मौजूद चीजों से हवादार मकान और सारे औजार बनाएं। उन्होंने कहा कि हमें अपने मवेशियों की देखभाल करनी चाहिए, उनके चारे का इंतजाम करना चाहिए, ईंधन व पीने के पानी समेत अपनी रोजमर्रा की जरूरतों की व्यवस्था खुद करनी चाहिए। क्योंकि इस किस्म की सहकारी आत्मनिर्भरता ही स्वराज का आधार है।

गांधीजी ने 20 साल पहले कहा था कि वास्तविक आजादी की कुंजी सत्ता के दुरुपयोग का विरोध करने की क्षमता में निहित है। लेकिन विरोध करने की यह क्षमता इस बात से तय होती है कि हमारी आत्मा कितनी स्वतंत्र है। यह स्वतंत्रता हमारी इसी स्वावलंबी उद्यमशीलता से पैदा हो सकती है। उत्पादन, पूंजी बाजार के लिए नहीं बल्कि प्राथमिक रूप से निजी और स्थानीय उपभोग के लिए होना चाहिए।

यह सिद्धांत ग्रामीण उत्पादन के बारे में प्रचलित आम मान्यता के खिलाफ है। अब यह बात साफ होती जा रही है कि गांवों की रोजमर्रा जिंदगी के लिए आवश्यक विविध फसलों और खाद्यान्न का उत्पादन बेहतर पोषण और खाद्य सुरक्षा दे सकता है, जबकि पूंजी बाजार पर केंद्रित बड़े पैमाने के एक फसली उत्पादन में ऐसा संभव नहीं है। हालांकि गांधीजी ने यह बात राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के सदर्भ में कही थी। लेकिन भारतीय गांवों की

सच्ची आजादी के लिए उनके सिद्धांत आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं। दुख की बात है कि गांधीजी जो नई दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे उस पर खरा उतरने की बात तो दूर रही, हम अध्यापक उनकी बात को पूरी तरह समझ भी नहीं पाए। बेशक, हमने बेसिक स्कूल के दायरे से बाहर निकल कर जीवन के विभिन्न चरणों के लिए कार्यक्रम बनाए थे, हम प्री–बेसिक और पोस्ट–बेसिक शिक्षा की बात करने लगे थे। मगर हममें से अधिकतर लोग इन सारे कार्यक्रमों की कल्पना संस्थाओं के शांत पानी में कर पाते थे। हमने ग्रामीण जीवन के खुले सागर में गोता लगा कर अपने जीवन को उसकी लहरों के हवाले करने का साहस नहीं दिखाया। हमने ग्रामीण कारीगरी को अपना प्रकाशस्तंभ नहीं बनाया और न ही अपनी मेहनत से कमाए भोजन और कपड़े के मामले में ग्रामीणों की तरह आत्मनिर्भर होने का कोई गंभीर प्रयास किया। इस तरह हम एक मूक सामाजिक क्रांति की संभावनाओं वाली नई तालीम को हकीकत की जमीन पर नहीं उतार पाए। चूंकि, हमने ग्रामीण कारीगरी के काम को संजीदगी से नहीं लिया इसलिए जब व्यवसायीकरण का ज्वार भारत की पारंपरिक कारीगरी की समृद्ध विरासत को लीलने लगा, तो हम कुछ नहीं कर पाए। खालिस व्यावसायिक दबावों से जूझते लोग ग्रामीण दस्तकारों द्वारा बनाए गए खूबसूरत और उपयोगी सामान के मुकाबले बड़े उद्योगों के दिखावटी और अकसर अनुपयोगी उत्पादों को तरजीह देने लगे हैं। नतीजा, हमारे कारीगर भुखमरी में जी रहे हैं और हम जिस प्रगति पर इतना गुमान कर रहे हैं, वह दरअसल हमारी विपन्नता को और बढ़ा रही है। यह विपन्नता सिर्फ भौतिक ही नहीं है, यह हमारे मस्तिष्क और आत्मा की विपन्नता भी है, हमारे आत्मविश्वास और स्वाभिमान का लोप है, जो आजादी की नींव को दरका रहा है।

हम एक और मामले में विफल हुए हैं। हम गांधीजी के नए विचारों से इतने आकर्षित थे और भले ही हम उन्हें पूरी तरह समझ नहीं पा रहे थे, लेकिन हम यह नहीं बूझ पाए कि खुद बेसिक स्कूलों में भी कितना सारा काम अधूरा रह गया है। ये स्कूल दो साल तक अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करते रहे और अपना अस्तित्व बचाने में कामयाब भी रहे। उन्हें हमारे ध्यान और विशेष रखरखाव की जरूरत थी, मगर हमने उन पर उतना ध्यान नहीं दिया। 1941 के जामिया नगर सम्मेलन में जिन व्यावहारिक कार्यभारों और अनसुलझे मुद्दों की शिनाख्त की गई थी, उन पर कभी वैसा काम नहीं किया गया, जैसा हमें करना चाहिए था। इससे पांच साल पहले हिंदुस्तानी तालीमी संघ ने 16 साल तक उम्र के बच्चों के लिए समग्र ग्रामीण विद्यालय खोलने की जो योजना हमें सुझाई थी, उसको पूरी तरह कभी विकसित नहीं किया गया। भले ही यह चीज हमारे विस्तारित कार्यक्रम का केंद्रीय तत्व रही हो, मगर अब वह हमारी रुचियों का केंद्र नहीं थी।

साभार : नई तालीम की कहानी से। मॉर्जरी सॉइक्स (1988) नई तालीम की कहानी, अनुवाद : श्री प्रकाश, क्षेत्रीय प्रारंभिक शिक्षा संसाधन केंद्र दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

अनुबंध : स्वरूप और प्रक्रिया

मनसुख भाई सल्ला

गांधी विचार का मर्म

गांधीजी के मात्र शिक्षा के विचार को ही नहीं, अपितु किसी भी क्षेत्र के उनके विचारों की जांच की जाए तो समझ में आयेगा कि इनका मूलभूत लक्षण है ''समग्रता''। गांधीजी ने सत्य–अहिंसा से लेकर सफाई तक के क्षेत्र के संबंध में विचार प्रस्तुत किए हैं। वे जीवन को समग्र रूप में स्वीकार करते हैं तथा अखंड रूप से देखते हैं। अतः उनके किसी भी विचार को खंड रूप में स्वीकार करने से मूल विचार को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उसे खंड–खंड रूप में प्रस्तुत करना संभव ही नहीं है, क्योंकि वे मनुष्य और जीवन को अखंड मानते हैं।

गांधीजी का सामान्य रूप में दिखने वाला विचार भी नया तथा अर्थपूर्ण लगता है। इसका रहस्य यह है कि उनका दर्शन मात्र प्रासंगिक न होकर चिरंतन है, तत्कालीन न होकर चिरकालीन है, सीमित न होकर व्यापक है। गांधीजी के किसी भी विचार का कोना सत्य और अहिंसा के केंद्र तक पहुंचता है तथा इसका लक्ष्य भी यही है। अतः उनके शिक्षा विषयक विचार में ध्येय, सामग्री और प्रक्रिया जीवन की समग्रता के संदर्भ में ही निर्देशित हैं।

कई बार ऐसा होता है कि गांधीजी का शिक्षा विषयक विचार स्वीकार्य लगता है, लेकिन सामग्री और प्रक्रिया के संबंध में वह अपूर्ण व अस्पष्ट लगता है। इसका कारण यह है कि जब नई तालीम का विचार प्रस्तुत किया गया था, उस समय वे देश के स्वतंत्रता आंदोलन के नायक के रूप में अत्यधिक जवाबदारियों का निर्वाह कर रहे थे। उनके बुनियादी तालीम के विचार राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र या कृषि संरक्षण आदि विषय बाहर से अलग–अलग दिखते हुए भी परस्पर अंतर्संबंधित हैं। एक विषय को अन्य विषय के संदर्भ में ही यथार्थ रूप में जाना जा सकता है। अतः शिक्षक को ज्ञान के विविध क्षेत्रों का समन्वय करके उनके बीच निहित कार्य–कारण संबंध और समानता को बताना चाहिए, तभी शिक्षा उद्देश्यपूर्ण और समग्रलक्षी बन सकेगी।

विविध विषयों को अखंड रूप में देखना तथा एकाधिक वर्षों में बांटे गये पाठ्यक्रम को भी अखंड रूप में देखने का दृष्टिकोण बनाना चाहिए। सभी विषय अंततः जीवन को समझने के लिए ही तो हैं।

उदाहरण के लिए बी.एड. पाठ्यक्रम में शिक्षा के तात्विक और सामाजिक आधार, अध्यापन की विविध पद्धतियां और पाठशाला संचालन, ये तीन अलग–अलग विषय होते हैं। तीन शिक्षक इन तीन विषयों को पढ़ाते हैं। परंतु विद्यार्थी इन तीनों विषयों को इस तरह से सीखते हैं, मानो इनके बीच कोई संबंध ही न हो। वास्तव में शिक्षा के तत्वों को साकार करने के लिए अमुक पद्धतियां हैं। इन पद्धतियों के अमलीकरण करने के लिए, पाठशाला का अमुक प्रकार से संचालन किया जाना चाहिए। इस तरह का अनुबंध न होने के कारण विद्यार्थियों के लिए शिक्षा के तत्व और उनका व्यवहार मात्र परीक्षा का स्मृति व्यापार बन जाता है।

वर्धा शिक्षा योजना में अनुबंध

वर्धा शिक्षा योजना के अनुबंध में तीन केंद्रों का उल्लेख किया गया है, यथा सामाजिक संदर्भ, प्राकृतिक संदर्भ और उद्योग। इन तीनों केंद्रों के साथ यदि शिक्षा का

अनुबंध हो, तो विद्यार्थी का सर्वांगीण विकास होता है। मनुष्य अकेला या स्वयं पर्याप्त नहीं है। वह समाज और प्रकृति के साथ अविच्छिन्न रूप में संबंधित है। जब शिक्षा का सामाजिक और प्राकृतिक संदर्भों के साथ अनुबंध होता है, शिक्षा का स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता है और शिक्षा का उद्देश्य सार्थक हो जाता है।

यहां तक तो सभी को नई तालीम की बात समझ में आती है। परंतु उद्योग द्वारा शिक्षा की बात शिक्षाविद्ों के गले उतरती नहीं है। क्योंकि जो इस विचार में विश्वास रखते हैं, उन्हें प्रयोगजन्य की प्रतीति होती नहीं तथा उनमें इसके स्वरूप की स्पष्ट समझ नहीं होती। जो इस विचार का विरोध करते हैं, उनके समक्ष इसका स्पष्ट शैक्षणिक दर्शन नहीं होता। ये दोनों ही इसके सही रूप को नहीं समझ पाते हैं।

गांधीजी का शिक्षा दर्शन समग्रतायुक्त और समवायी है। वे केवल बौद्धिक विकास को ही मनुष्य का संपूर्ण विकास नहीं मानते। शरीर, मस्तिष्क और हृदय इन तीनों का संतुलित व समवायी विकास ही इंसान होने की श्रेणी में आता है। उद्योग अर्थात् केवल अमुक काम करने का भ्रम उनके मन में नहीं था।

इस देश में लाखों लोग श्रम करते हैं, परंतु यह उनकी शिक्षा का माध्यम नहीं बनता है। यह मात्र आय का साधन होता है। लेकिन ऐसा उद्यम या श्रम जिसके द्वारा शैक्षणिक मूल्य उत्पन्न हों, इस पर गांधी जी बल देते थे।

प्रत्येक बच्चा या व्यक्ति कुछ न कुछ कार्य किए बिना नहीं सकता। परंतु कार्य मात्र से शिक्षा नहीं होती है। जब वह अपने कार्यों को समाज और प्रकृति के संदर्भ में देखता, विचार करता है तथा उसका अनुकूलन इस तरह से करता है कि उसके जीवन में समग्रता आए, तभी वास्तविक अनुबंध हुआ माना जा सकता है। उद्योग मात्र किसी हुनर की तालीम नहीं है बल्कि समाजोपयोगी उत्पादक श्रम द्वारा जीवन की वास्तविकता को समझना है, जीवन के विभिन्न संदर्भों के बीच संबधं को समझने की चाबी प्राप्त करना है। इस तरह से अनुबंध जीवन द्वारा जीवन के लिए शिक्षा का एक मंत्र है। जिसके परिणामस्वरूप, समग्र शिक्षा की प्रक्रिया एकीकृत बनती है।

अनुबंध के विविध स्वरूप

हमारे द्वारा किए जाने वाले कर्मों (कार्यों) का तीन प्रकार से असर पड़ता है, कर्म करने वाले व्यक्ति के चित्त के ऊपर, समाज के ऊपर और प्रकृति के ऊपर। इन तीनों प्रकार के असरों को समझकर मनुष्य अपने कर्म कर सके, इसकी तालीम उसे व्यावहारिक कार्य से मिलनी चाहिए। तभी उसका विकास सर्वांगीण होगा। शिक्षक द्वारा विद्यार्थी का इन विविध असरों का दर्शन कराकर इस संबंध को जागृत करके, अपने कर्मों को समग्र के संदर्भ में देखने, उसके गुण–दोषों की जांच करने तथा उसके संबंध में विवेकपूर्ण कार्य करने की आदत डालनी है। इस तरह से अनुभव और ज्ञान की पुनर्रचना हो तथा बाद के कर्म इसके संदर्भ में करने की प्ररेणा हो, यह उद्देश्य इसके पीछे निहित है।

थोड़े वर्षों पूर्व गुजरात यूनिवर्सिटी के कुछ विद्यार्थी लोकभारती संस्था के प्रवास पर आए थे। संस्था के दर्शन करते समय उन्होंने देखा कि लोकसेवा महाविद्यालय के द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी संकर–4 कपास के प्रसंस्करण का कार्य रहे थे। तत्पश्चात वे मनुभाई पंचोली के साथ विचार–विमर्श करने के लिए बैठे, तो उनमें से एक बहन ने पूछा कि ''आपके यहां कॉलेज के तृतीय वर्ष के विद्यार्थी श्रमकार्य कर रहे थे। क्या यह उनके कीमती समय का अपव्यय नहीं है? उन्हें श्रम के स्थान पर अध्ययन में समय नहीं देना चाहिए।''

प्रश्नकर्त्ता बहन को मनुभाई पंचोली ने समझाया कि ''आपने आज देखा होगा कि विद्यार्थी कपास के फूल के ऊपर से कोमलतापूर्वक और ध्यान से नाखूनों से पंखुडियां अलग कर रहे थे। ऊपर धीरे से थैली चढ़ा रहे होंगे तथा धागा बांधते होंगे। इन तमाम कार्यों को

करते समय उन्हें पता है कि इसमें से एकाध क्रियाओं में यदि भूल हो जाए, तो इस फूल में से कपास नहीं होगा तथा श्रम निष्फल जाएगा।''

इस क्रिया को एकाधिक बार करने से विद्यार्थी में ऐसे संस्कार पैदा होंगे कि किसी कार्य को कोमलता और ध्यानपूर्वक करना चाहिए। भविष्य में यदि कोई विद्यार्थी कलेक्टर या डी.डी.ओ. बनेगा, तो लोगों के साथ कार्य करते समय उसे यह शिक्षा काम आएगी। लोगों के साथ वह कोमलता और ध्यानपूर्वक व्यवहार करेगा अर्थात् उच्च शिक्षा में समझपूर्वक किया गया उद्योग शिक्षा प्रदान करता है।

व्यक्ति के कर्म उसके विचारों और भावनाओं पर किस तरह से असर डालते हैं, उन्नत करते हैं, इसका दृष्टांत नानाभाई भट्ट के जीवन से देखा जा सकता है।

वे 70 वर्ष की उम्र में आंबला लोकशाला में विद्यार्थियों के साथ रूई में से कपास के बीज निकालने का श्रम करते थे। इसे देखकर एक कार्यकर्ता ने कहा कि ''नानाभाई, इस उम्र में आप पढ़िए–लिखिए। इस उम्र में आपको कहीं काम नहीं करना है। और आखिर आप कितने कपास के बीज निकाल सकते हैं।''

तब नानाभाई ने कहा कि विद्यार्थी या मजदूर मुझसे अधिक कपास के बीज निकाल सकते हैं, यह बात सही है, पर मैं इस कार्य को करूं तो यह मेरे लिए मात्र शारीरिक श्रम नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक कार्य भी है। इससे मेरा आध्यात्मिक विकास होता है। कपास के बीज निकालने की क्रिया द्वारा मैं श्रमिक समाज के साथ अपने आपको जोड़ता हूं तथा मैं इसे गौरव की बात मानता हूं।

अतः नई तालीम की संस्थाओं में श्रम की ही भांति छात्रालय जीवन को अनिवार्य माना जाता है। विद्यार्थी छात्रालय की विविध प्रवृत्तियों में भागीदार बनते हैं, जो कि उनकी शिक्षा का ही अंग है। उच्च जाति का विद्यार्थी शौचालय साफ करता है, तो वह मात्र एक क्रिया नहीं करता बल्कि अस्पृश्यता की व्यापक समस्या के साथ भी वह जुड़ता है। शिक्षक जब इस तरह का अनुबंध करता है, तो विद्यार्थी का चारित्रिक विकास विकसित होता है।

कर्म का प्रकृति पर असर

मनुष्य के कर्मों का असर प्रकृति के ऊपर होता है। इससे आंखें खोल देने वाले उदाहरण, प्रदूषण और इकॉलाजी की समस्याओं से मिल सकते हैं। जंगलों का बेरोकटोक रूप में अत्यधिक विनाश करके पैसा कमाने वाले व्यापारी या अधिकारी यह नहीं देख सकते कि ये जंगल एक रात में या एक वर्ष में तैयार नहीं हुए हैं। अनवरत रूप में बिना सोचे–समझे जंगलों का विनाश करने में बाढ़, अपरदन, अकाल, बरसात की अनियमितता जैसी अनेक आफतें पैदा होती हैं।

समग्र गुजरात इस समय 4000 वर्ष पुराना कुदरती रूप में संचित पानी खींच रहा है। 20 वर्ष के बाद क्या असर होगा, इसका विचार नहीं करते। समस्त प्राकृतिक अनुकूलता होने पर, जमीन की एक इंच उपजाऊ परत तैयार होने में 400 वर्ष लगते हैं। जबकि सैकड़ों एकड़ की परत बरसात में थोड़े से घंटों में अपरदन का शिकार हो सकती है। अनेक सुसंस्कृतियां जमीन का अपरदन होने से खत्म हो गई तथा इसका ज्ञान विद्यार्थियों को हो, तो जमीन के अपरदन की समस्याओं को विद्यार्थी पुनः नए सिरे से देखने लगते हैं। ग्रीन हाउस इफैक्ट की भी इस दृष्टि से जांच किए जाने की जरूरत है।

विगत 300 वर्षों में फूली–फली औद्योगिक संस्कृति ने अंधे होकर पृथ्वी का शोषण किया है। परंतु अब आगे के 50 वर्ष में ही उसके घातक परिणाम दिखने लगे हैं। मनुष्य के कर्मों के प्रकृति के ऊपर कैसे–कैसे असर होते हैं, यदि उनका अनुबंध होता तो मनुष्य अपने कर्मों की नए सिरे से जांच करने लगता। मात्र संकुचित दृष्टि से तत्कालीन स्वार्थ प्रेरित लाभ प्राप्त करने के स्थान पर, व्यापक संदर्भ में देखना–सीखना चाहिए।

कर्म का सामाज पर असर

मनुष्य के कर्मों का प्रत्यक्ष या परोक्ष असर समाज के जीवन के ऊपर पड़ता है। शायद, ये असर तुरंत न दिखें, तो भी इन असरों से समाज अछूता नहीं रह सकता। शिक्षा द्वारा मनुष्य में यह समझ पैदा होनी चाहिए। एक कारखाने के द्वारा किसी व्यक्ति का भले ही खूब फायदा हो, पर उसके प्रदूषित पानी से सैकड़ों एकड़ जमीन बिगड़ती है, आस–पास की हवा बिगड़ती है, तो इससे नुकसान संपूर्ण समाज को ही होता है तथा समाज के सदस्य के रूप में व्यक्ति को भी नुकसान होता है। खुराक में मिलावट, गैर–कानूनी रूप में होने वाले कार्यों, सार्वजनिक जीवन के नियमों को तोड़ने से मात्र दूसरों को ही नुकसान नहीं होता है, बल्कि बिगड़ी हुई समाज रचना का शिकार व्यक्ति खुद भी होता है। यदि अनुबंध से विवेकशक्ति और दृष्टि प्राप्त होती हो, तो व्यक्ति समझ सकेगा कि अकबर बादशाह ने हौज में दूध के घड़े उलटने का आदेश दिया था, पर मेरे एक घड़े पानी से कोई फर्क नहीं पड़ेगा, यह मानकर सभी ने पानी के घड़े भी उसमें पलटे। परिणामस्वरूप हौज पानी से ही भर गया। यह उदाहरण सामाजिक जवाबदारी के पालन करने के संबंध में अद्‌भुत रूप से प्रकाश डालता है।

अर्थात् वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्मों का भविष्य के ऊपर क्या असर होगा, उसका अनुबंध करके जीवन व्यवहार करना चाहिए तथा इसकी शिक्षा शिक्षाकाल में मिलनी चाहिए। गांधीजी साबरमती नदी के किनारे दांतून करने के बाद, जब लुटिया भर पानी में मुंह धोते थे, तब किसी ने पूछा कि बापू इतनी अधिक मात्रा में पानी है, फिर भी आप इतनी मितव्यवता क्यों करते हो? तब गांधीजी ने कहा था कि ''साबरमती नदी का पानी केवल मेरे लिए नहीं है। मेरा अधिकार लुटियाभर पानी उपयोग करने का है। इससे अधिक पानी का मैं उपयोग नहीं कर सकता। इस पानी पर मनुष्य, प्राणी, पक्षी अनेक का अधिकार है।''

अति उपयोग करना प्रकृति के साथ, भावी पीढ़ियों के साथ, भविष्य के साथ द्रोह है। क्योंकि इससे जीवन का संतुलन और संवेदनशीलता भंग होती है। गांधीजी नई तालीम के द्वारा मनुष्य की सर्वांगीण शिक्षा की हिमायत करते हैं तथा इसके लिए अनुबंध को आधारभूत तत्व मानते हैं।

अनुबंध रहित शिक्षा सामग्री मात्र सूचना का ढेर है। आज सूचना, उसमें भी एकांगी निपुणता देनेवाली सूचना की मात्रा में वृद्धि करने का काम हमारे पाठ्यक्रमों के बनाने वाले कर रहे हैं। उनका मानना है कि हमने पाठ्यक्रमों को समृद्ध किया है। पर यह मात्र निरर्थक बोझ है, इससे विद्यार्थी की स्मृति तथा बौद्धिक क्षमता में वृद्धि तो हो सकती है, पर अनुबंध रहित यह सूचना विद्यार्थी को स्वार्थी, संकुचित और कठोर बनाती है। ऐसी शिक्षा विद्यार्थी के शरीर, दिमाग और मन का संवादितापूर्ण विकास नहीं कर सकती। वर्तमान युग सहअस्तित्व, सहकारिता, शांति और अहिंसा चाहता है। इस रूप में नागरिकों का निर्माण हो, इसके लिए शिक्षा के बीज नई तालीम में निहित है। इस शिक्षा की मूलभूत चाबी है– अनुबंध। अनुबंध के कारण विद्यार्थी को सामग्री के संदर्भ में अपने कार्यों, संबंधों, निर्णयों को देखने–समझने की दृष्टि प्राप्त होगी।

मनसुख भाई सल्ला : लोक भारती संस्थान (भावनगर, गुजरात) के ग्राम महाविद्यालय के प्राचार्य रहे हैं और वर्तमान में 'गुजरात केलवती परिषद' के लिए काम कर रहे हैं।

■ डायरी से

डायरी के पन्ने

शहनाज़ डी.के.

23 फरवरी 2013

विद्यालय में बच्चों को अपने विचार अभिव्यक्त करने के मौके कम ही मिल पाते हैं और हिन्दी के अध्यापक भी उनकी कोई विशेष मदद नहीं करते हैं। इस वर्ष विज्ञान की पाठ्यपुस्तक में कक्षा छः के बच्चों को एक कहानी लिखने का अवसर मिला। मुझे तो ऐसे मौके का इंतजार था, परन्तु बच्चे तो एकदम बौखला गए और चिल्लाने लगे, मैडम! हम कैसे कहानी लिख सकते हैं? मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की और बताया कि तुम अपनी किताब में जो कहानियां पढ़ते हो, वैसे ही एक कहानी लिख लाना। बस, तुम्हें सोचना ये है कि कहानी से यह पता चले कि प्लास्टिक से क्या नुकसान हो रहा है। कुछ बच्चे कहानी लिखकर लाने को तैयार हो गए।

अगले दिन केवल दो बच्चे ही कहानी लिखकर लाए। पहले ललित ने कहानी सुनाई तो सारे बच्चे चिल्लाने लगे, यह तो हमारी अंग्रेजी की किताब में पाठ है, वही लिख लाया है। मैंने कक्षा को शांत किया और बच्चों से कहा- चलो अंग्रेजी की किताब से ही सही, पर उसने कुछ लिखने की कोशिश तो की है, आप सबने तो कुछ भी नहीं लिखा। इस पर सब चुप हो गए। कहानी सुनाने वाला ललित बोला, कोई बात नहीं मैडम, मैं अभी दूसरी कहानी सोचता हूं। देखना, मैं और भी कहानियां बना सकता हूं। फिर लक्ष्मण ने 'दो दोस्त' की कहानी सुनाई और बोला दोनों ने गांव में जो प्लास्टिक का कचरा इकट्ठा हो गया था, उसे दूर ले जाकर डाल दिया और जला दिया। बीच में ही ललित बोल पड़ा- लेकिन मैडम ने तो बताया था कि प्लास्टिक को जलाने पर खराब गैसे बनती हैं, जो प्रदूषण बढ़ाती हैं। और फिर ललित खड़ा हो गया और बोला- तेरी कहानी भी अच्छी नहीं है देखो, मैंने एक और नई कहानी लिख ली, अब तो किताब की नकल नहीं है। मैडम मैं सुनाऊ, जंगल के जानवरों की कहानी और वह सुनाने लगा- जंगल में बहुत कचरा हो गया क्योंकि सभी जानवर कुरकुरे खाते थे और चॉकलेट भी खाते थे। तो फिर सबने मिलकर एक बड़ा गड्डा खोदा और सारा प्लास्टिक का कचरा उसमें डाल दिया। तभी निर्मला बोली, मैडम ने कहा था कि प्लास्टिक तो जमीन में भी सड़ता-गलता नहीं है, तो फिर क्या फायदा ऐसा करने से। ललित को फिर गुस्सा आ गया और वह बोला- तो फिर आखिर, इस प्लास्टिक का क्या करें। इस बीच गोविंद खड़ा हो गया और बोला- अब मेरी कहानी सुनो। उसने बोलना शुरू किया- दो दोस्त रोज प्लास्टिक की थैली में चीजें खाते थे। एक दिन एक दोस्त की गाय के गले में थैली फंस गई, तब से दोनों दोस्तों ने प्लास्टिक की थैली लाना बंद कर दिया। सब बच्चे कहने लगे, हां-हां हम भी प्लास्टिक वाले चॉकलेट, बिस्कुट नहीं खाएंगे। पुष्कर बोला- लेकिन प्लास्टिक बनाने वालों को कौन समझाएगा कि वे प्लास्टिक के सामान न बेचें।

आज बच्चों को कहानी लिखने का मौका मिला ही और साथ ही पर्यावरण को लेकर भी अच्छी चर्चा हो गई।

16 मार्च 2013

मेरा स्कूल जिस गांव में है, वहां अधिकांश लोग खेती करते हैं और बच्चे भी अपने माता-पिता के साथ खेत पर काम करने जाते हैं। मैं कक्षा में उनका ध्यान इस ओर दिलाती रहती हूं कि वे अच्छे किसान हैं और पढ़-लिख कर भी उन्हें अपने खेत बचा कर रखने हैं। कक्षा सातवीं में बच्चों ने जब विज्ञान कि किताब में कम्पोस्ट खाद बनाने के बारे में पढ़ा, तो उन्होंने यह काम विद्यालय में ही करने का सोचा और स्कूल में ही एक कोने में गड्डा खोदना शुरू कर दिया। कक्षा में बातचीत करने पर सब ने यह राय दी कि हम पोषाहार में बनने वाली सब्जी के छिलके, फलों के छिलके, चाय पत्ती (धोकर) और सूखे पत्तों का कचरा इस गड्डे में डालेंगे। अगले दिन नीम और यूकेलिप्टस के पत्तों से गड्डा भर दिया गया। अब रोजाना बच्चे पोषाहार का कचरा उसमें मिलाने लगे। बच्चों ने पास-पड़ोस से बकरी व गाय का गोबर ला कर उस गड्डे में मिला दिया। बच्चे बारी-बारी से स्कूल की आधी-छुट्टी में उस कचरे को ऊपर-नीचे करते और थोड़ा पानी मिलाते। इस तरह 20-25 दिन में कचरा सड़ने लगा और धीरे-धीरे खाद तैयार होने लगी। बच्चों को अब कम्पोस्ट खाद का मतलब समझ में आने लगा। वे अपने खेत पर यही काम करने के बारे में सोचने लगे। उन्होंने बताया कि हम खेत पर पत्तों को जला देते हैं, पर अब हम ऐसा नहीं करके उन्हें एक गड्डे में इकट्ठा कर देंगे तो कम्पोस्ट खाद बनेगा, यह तरीका अच्छा है। लेकिन माता-पिता को समझाना पड़ेगा, नहीं तो वह ऐसा नहीं करने देंगे। मैंने कहा तुम इसका फायदा उन्हें बताओगे तो, वे तुम्हारी बात मान जाएंगे।

कुछ दिनों तक यह काम चलता रहा। एक दिन मैं छुट्टी पर थी। अगले दिन विद्यालय गई, तो बच्चे कक्षा में खुसुर पुसुर कर रहे थे। कोई मुझे कहने की हिम्मत नहीं कर रहा था। मैंने पूछा, क्या बात है। कक्षा की एक समझदार लड़की कृष्णा बोली- मैडम! कल आप नहीं आए थे, तो हमने सारे विद्यालय की सफाई की थी। मैंने कहा, यह तो अच्छी बात है फिर तुम चुप क्यों हो। वह बोली- लेकिन सर ने सारे पत्ते इकट्ठे करवा कर जला दिए। मैंने पूछा, तुमने मना क्यों नहीं किया? चुन्नीलाल बोला- किया था मैडम, लेकिन सर ने हमारी बात नहीं मानी। वे बोले कि कोई खाद-वाद नहीं बनाना। मैं कह रहा हूं, वो करो। इसलिए हमें उनकी बात माननी पड़ी।

मैंने कहा, कोई बात नहीं अभी और कचरा होगा, वो हम डालते रहेंगे। लेकिन तुम अपने खेत पर ''कम्पोस्ट पिट'' जरूर बना देना। मेरी बात खत्म होते ही केसर बोली- मैडम! सर तो पढ़े-लिखे हैं, वे तो हमारी बात माने नहीं, तो हमारे मां-बाप कैसे हमारी बात मानेंगे। वे तो खेत पर पत्तों का कचरा जरूर जलाएंगे।

मैं उसे क्या जवाब देती। मैं खुद ही सोच रही थी कि बड़ों को बच्चों से सीखने में क्यों शर्म आती है? उन्हें सही रास्ता कौन दिखाए?

शहनाज़ डी.के. : राजकीय उच्च प्राथमिक विद्यालय गड़रियावास, भींडर, उदयपुर में कार्यरत हैं।

21वीं सदी में भारत के सरोकार

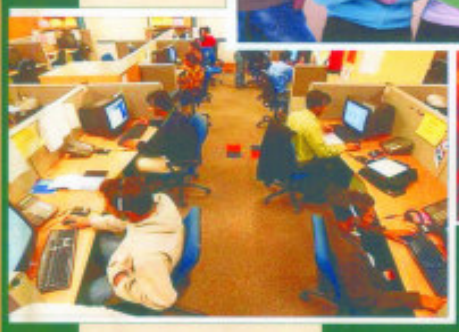

संपादक

एच.के. दीवान / वेददान सुधीर

प्रकाशक : सामयिक बुक्स | मूल्य : ₹ 695
विद्या भवन सोसायटी (1931) की हीरक जयंती के उपलब्ध्य में प्रकाशित ग्रंथ

एक से अनेक

आओ
मैं तुम्हें पहचान देता हूं
तुम्हें जबान देता हूं
तुम्हें ज्ञान नहीं
ज्ञान की कुंजी देता हूं
जिसका और न छोर
जिसको न डाकू लूट सकते हैं
न चुरा सकते हैं और
न जो आग से
जल सकती है
और न ही पानी से
गल सकती है
यानी मैं देता हूं तुम्हें
अथाह आनंद की थाह
दिखाता हूं तुम्हें
तुम्हारी मनचाही राह।
हां, इस राह पर
चलना तुम्हीं को पड़ेगा
मैं दे सकता हूं
तुम्हें आवाज
मेरी आवाज पर
बढ़ना तुम्हीं को पड़ेगा।
अगर तुम चल पड़े
अकेले नहीं
औरों को साथ लिए
तो तुम एक
उदाहरण हो जाओगे
कितने ही साधारण रहो
तुम
मगर असाधारण
हो जाओगे
एक से अनेक
जब भी हुआ आदमी
इंसानियत की टेक
हुआ आदमी।

- भगवती लाल व्यास
हिंदी और मेवाड़ी के साहित्यकार हैं।

विद्या भवन सोसायटी, उदयपुर की ओर से प्रकाशक व मुद्रक : रियाज़ ए. तहसीन, पता : विद्या भवन सोसायटी, डा. मोहन सिंह मेहता मार्ग, फतेहपुरा, उदयपुर, राजस्थान से प्रकाशित एवं संजय प्रिन्टर्स, 71, महिला मंडल स्कूल के पास, मुखर्जी चौक, उदयपुर, (राज.) से मुद्रित, सम्पादक : भाग चंद्र कुमावत।